अनुसंधान का विवेचन

उदयभानु सिंह
पी-एच० डी०, डी० लिट०

हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली-६ : : पटना-४

प्रकाशक
वागीश्वरी प्रकाशन
जगदीशपुर, जौनपुर

प्रथम संस्करण : १९६२ ई०
मूल्य : छः रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

प्राक्कथन

सन् १९५९ ई० में डा० उदयभानु सिंह ने 'हिंदी के स्वीकृत शोधप्रबंध'-नामक संदर्भग्रंथ लिखा था। हिंदी-जगत् में उसका विशेष स्वागत हुआ। लगभग दो वर्षों में उसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। प्रथम संस्करण में २७८ शोधप्रबंधों का विवरण दिया गया था। उसका द्वितीय संस्करण लगभग छप चुका है। नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, से ही प्रकाशित इस परिवर्धित संस्करण में सवा पाँच सौ शोधप्रबंधों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह संस्करण जनवरी तक उपलब्ध हो जाएगा।

हिंदी-अनुसंधान के हितैषियों, अनुसंधाताओं और अनुसंधित्सुओं का आग्रह था कि हिंदी-संबंधी स्वीकृत शोधविषयों की विस्तृत सूची भी प्रकाशित की जाए। उस आवश्यकता की पूर्ति का प्रयत्न प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। 'अनुसंधान का विवेचन' अपने ढंग की पहली पुस्तक है। इसमें अनुसंधान के विविध पक्षों का विशद एवं तर्कसंगत व्याख्यान किया गया है। साथ ही, 'अनुबंध' में उन विषयों की वर्गीकृत सूची भी दे दी गयी है जो विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिंदी-संबंधी अनुसंधान के लिए स्वीकृत हुए हैं। सूची को पूर्ण बनाने का यथाशक्ति प्रयास किया गया है।

यह पुस्तक मुख्यरूप से हिंदी के अनुसंधाताओं और अनुसंधित्सुओं के आग्रह पर उन्हीं के लिए लिखी गयी है। परंतु, अन्य अनुसंधान-प्रेमियों के उपयोग की भी काफी सामग्री इसमें मिल जाएगी।

इस प्रकार की पुस्तक लिखने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। विवेचन के क्रम में कहीं-कहीं आलोचना करना भी अनिवार्य हो जाता है; और उसके फलस्वरूप अनुदार जनों का कोपभाजन बनना पड़ता है। अनुसंधान-संबंधी सूचनाएँ एकत्र करने में भगीरथ-प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी तो विश्वविद्यालयों के विभिन्न अधिकारियों को बीसों पत्र लिखने के बाद भी कोई उत्तर नहीं मिलता। कठिन परिस्थितियों में भी लेखक ने इस महत्त्वपूर्ण कार्य का सफल निर्वाह किया है।

हमारा विश्वास है कि हिंदी-संसार डा० उदयभानु सिंह के अन्य शोधग्रंथों की भाँति ही उनकी इस पुस्तक का भी आदर करेगा।

लक्ष्मीप्रसाद सिंह

विषय-सूची

विवेचन

अनुबंध—स्वीकृतविषय-सूची

प्रथम प्रकरण

अनुसंधान का स्वरूप

अनुसंधान के विविध पक्षों का विवेचन करते समय पहला प्रश्न उठता है—अनुसंधान का स्वरूप क्या है ? आधुनिक हिंदी-साहित्य में 'अनुसंधान', 'शोध', 'गवेषणा', 'अन्वेषण', 'अनुशीलन' और 'खोज' शब्दों का प्रायः पर्यायरूप में व्यवहार होता है। प्रथम पाँच शब्द संस्कृत-वाङ्मय में भी बहुशः प्रयुक्त हुए हैं। हिंदी-साहित्य में 'खोज' का प्रयोग भी बहुत पुराना है। परंतु डॉक्टरेट के संदर्भ में इन शब्दों का अर्थ बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। हिंदी की आधुनिक अनुसंधान-भावना का स्रोत अँगरेजी का 'रिसर्च' है। इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'शब्दसागर' में 'रिसर्च'-वाची उपर्युक्त शब्दों की रिसर्च-परक व्याख्या का सर्वथा अभाव है। 'रिसर्च', 'थीसिस', 'शोधप्रबंध' आदि शब्द भी उसमें नहीं है। इसका स्पष्ट कारण यही है कि 'शब्दसागर' के निर्माण के समय हिंदी-जगत् में 'रिसर्च' की संकलपना ही नहीं हुई थी। अँगरेजी 'रिसर्च' का अर्थ भी 'थीसिस' और 'डॉक्टर' के साथ जुड़ा हुआ है। अतः 'अनुसंधान' के स्वरूप की सम्यक् प्रतीति के लिए तीन शब्दों के अर्थ की स्पष्ट अवधारणा अपेक्षित है—रिसर्च, थीसिस और डॉक्टर।

'रिसर्च' शब्द का सामान्य अर्थ है—अवधानपूर्वक अथवा श्रमपूर्वक की गयी सूक्ष्म खोज। 'थीसिस' और 'डॉक्टरेट' के प्रसंग में उसका अर्थ है—अध्ययनपूर्ण खोज-बीन अथवा परीक्षण, विशेषतः आलोचनात्मक और व्यापक अन्वेषण अथवा प्रयोग-परीक्षण जिसका उद्देश्य है नवीन तथ्यों का उद्घाटन और उनका समीचीन आख्यान; स्वीकृत निष्कर्षों, सिद्धांतों या विधियों का पुनरीक्षण। किसी लेख या पुस्तक आदि के रूप में किया गया वह उपस्थापन भी 'रिसर्च' ही है जिसमें इस प्रकार के रिसर्च की जाँच-पड़ताल एवं उसके परिणामों की निबंधना की गयी हो।[1]

---

1. Research—1. careful or diligent search : a close searching 2 a : studious inquiry or examination; esp : critical and exhaustive investigation or experi-

'थीसिस' का सामान्य अर्थ है—समर्थयितव्य प्रतिज्ञा। 'रिसर्च' और 'डॉक्टरेट' के प्रसंग में उसका अर्थ है—वह पक्ष या प्रतिज्ञा जिसे कोई व्यक्ति (जैसे, किसी सारस्वत संमान का अभ्यर्थी) प्रस्तुत और प्रतिपादित करता है अथवा तर्क के द्वारा प्रतिपादित करने का प्रस्ताव या प्रयत्न करता है। किसी विद्यार्थी द्वारा किसी उपाधि के लिए प्रणीत वह प्रबंध भी 'थीसिस' है जिसमें इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया हो।[1]

'डॉक्टर' शब्द का पहला अर्थ है—वह धार्मिक व्यक्ति जो अध्यात्मशास्त्रीय पांडित्य एवं व्यक्तिगत पवित्रता में श्रेष्ठ हो और जो, सामान्यतः, प्रतिष्ठित मत का व्याख्याता तथा प्रतिरक्षक हो। इस अर्थ की दृष्टि से यह तथ्य लक्ष्य करने योग्य है कि सन् १९१८ ई० में परीक्षणार्थ प्रस्तुत किया गया हिंदी-विषयक शोध-प्रबंध 'तुलसीदास का धर्मदर्शन' (थियॉलॉजी ऑफ़ तुलसीदास) था जिस पर श्री जे० एन० कार्पेन्टर को लन्दन विश्वविद्यालय से डी० डी० (डॉक्टर ऑफ़ डिविनिटी) की उपाधि मिली थी। 'रिसर्च' और 'थीसिस' के संबंध से 'डॉक्टर' शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए किया जाता है जिसने अनेक वर्षों तक किसी विशिष्ट विषय का तत्त्वाभिनिवेशी अध्ययन करके, कोई संस्तुत्य प्रबंध लिख करके, और बहुत-सी कठिन परीक्षाएँ पास करके किसी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त कोई उच्चतम सारस्वत उपाधि (जैसे, पी-एच० डी०) अर्जित की हो।[2]

---

mentation having for its aim the discovery of new facts and their correct interpretation, the revision of accepted conclusions, theories and laws.

b : a presentation (as an article or book) incorporating the finding of a particular research.

—Webster's Third New International Dictionary of the English Language.

1. Thesis—proposition to be maintained; dissertation, esp. one by candidate for degree.—Oxford Dictionary

Thesis—a position or proposition that a person (as a candidate for scholastic honors) advances and maintains or offers to maintain by argument.

—Webster's...Dictionary

2. Doctor—1. a : a religious scholar who is eminent in theo-

अब 'रिसर्च' के पर्यायवाची हिंदी-शब्दों पर विचार कीजिए।

खोज—'खोज' का मूल है प्राकृत 'खोज्ज', जिसका अर्थ है—पदचिह्न। तदनुसार उसका व्यापक अर्थ है—चिह्न या निशान।[1] 'खोज' का दूसरा अर्थ है—तलाश, गवेषणा, शोध, अनुसंधान।[2] परंतु, अनवरत चिंतन और सूक्ष्म विचारणा की जो विशेषता 'अनुसंधान' शब्द में है, वह ठेठ 'खोज' में नहीं है। दूसरी बात यह है कि 'खोज' से निष्पन्न 'खोजी', 'खोजक', 'खोजप्रबंध' आदि शब्द बहुत खटकते हैं। अतः 'अनुसंधान' के पर्यायरूप में 'खोज' का प्रयोग संमान्य नहीं है। अनुसंधान के क्षेत्र में सरलीकरण की परिहार्य प्रवृत्ति का स्वागत अमंगलकारी होगा।

अन्वेषण और गवेषण—'इष्' का अर्थ है—चाहना; (इष्ट को) पाने का प्रयत्न करना। 'अन्विष्' (अनु+इष्) का अर्थ है—अभीष्ट को खोजना; खोजना।[3] 'अन्वेष' या 'अन्वेषण' का अर्थ है—खोज, जाँच-पड़ताल, गवेषणा, अनुसंधान।[4]

---

logical learning and personal holiness and usually an expounder and defender of established doctrine.

b : a person comptent by reason of skill and knowledge to teach or expound authoritatively a subject or field of knowledge.

c : a person who has earned one of the highest academic degrees (as a PHD) conferred by a University usually by spending several years in advanced study of a specialized field, by writing an acceptable dissertation, and by passing numerous rigorous examinations.

d : a person awarded an honorary doctorate (as an LLD or Litt D) by a college or University —Webster's...Dictionary

१. खोज मारि रथ हाँकहु ताता।—रामचरितमानस, २।८५।४
रथ कर खोज कतहुँ नहिं पावहिं।—रामचरितमानस, २।८६।१

२. सो सीता कर खोज कराइहि।—रामचरितमानस, ४।४।२
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता।—रामचरितमानस, ४।२८।४

३. न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।—कुमारसम्भव, ५।४५

४. किं वृथा तर्केण अविन्ष्यते—अभिज्ञानशाकुन्तल
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणाम्—रघुवंश, १२।११

'गविष्' या 'गवेष्' का मूल अर्थ था—गाय की इच्छा करना; गाय को खोजना। आगे चलकर अर्थ-विस्तार होने पर 'गवेषणा' के सामान्य अर्थ हुए—उत्कट इच्छा करना; इच्छित की प्राप्ति के लिए प्रयत्न या खोजपूर्ण प्रयत्न करना[१]; विचारणा या छानबीन करना।[२] अंततोगत्वा 'अन्वेषणा' और 'गवेषणा' शब्द पर्याय-वाची हो गये।[३] 'अन्वेषणा' और 'गवेषणा' में एषणा-तत्त्व की प्रधानता है; चिंतन की धारावाहिकता, सूक्ष्मता और लक्ष्य-संधान की कमी है। अतः ये शब्द बहुत हद तक 'रिसर्च' के बोधक हुए भी उसके समीपतम पर्याय नहीं हैं।

अनुशीलन—'शील्' का अर्थ है—ध्यान, चिंतन, अभ्यास या अध्ययन करना। 'अनु' और 'परि' उपसर्ग उसके पौनःपुन्य के द्योतक हैं। 'अनुशीलन' या 'परि-शीलन' का अर्थ है—पौनःपुनिक या अविच्छिन्न ध्यान, चिंतन, अभ्यास या अध्ययन।[४] इन शब्दों से 'रिसर्च' की चिंतनात्मकता और अध्ययनात्मकता का सम्यक् बोध होता है; परंतु, उसकी प्रविधि और प्रक्रिया की भावना उद्बुद्ध नहीं होती।

शोध—'शुध्' धातु का अर्थ है—निर्मल होना;[५] संदेहरहित होना।[६] 'शोध' या 'शोधन' के अर्थ हैं—प्रमाणीकरण, परिष्करण, दोष-निवारण;[७] खोज, अन्वेषण;[८] विचारणा;[९] छानबीनपूर्वक अवधारणा;[१०] वस्तु के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण।[११] 'शोध' शब्द 'रिसर्च' की अधिकांश विशेषताओं का वाचक है। पाठालोचक लिपिक-दोषों का परिहार करके रचनाविशेष के मूल पाठ का तर्क-संगत निर्धारण करता है, अतः पाठानुसंधान की अर्थव्यंजना की सर्वाधिक समर्थता

---

१. गवेषमाणं महिंषीकुलं जलम्।—ऋतुसंहार, १।२१
२. सखि किमर्थगवेषणया गिरं किरति सेयमनर्थमयी मयि।—नैषधीयचरित, ४।१०७
३. पर्येषणा परीष्टिश्चान्वेषणा च गवेषणा।—अमरकोश, २।७।३२
४. आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, १।१।११
विज्ञातसारायनुशीलनेन—किरातार्जुनीय, १६।२८
तत्र हेतुस्तथाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम्।—साहित्यदर्पण, ३।२-३ पर वृत्ति
५. अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।—मनुस्मृति, ५।१०८
६. न शुध्यति मेऽन्तरात्मा।—मृच्छकटिक
७. लिखितपत्रादेः प्रमाणीकरणम्। यथा। लेख्यशोधनमाह कात्यायनः।—शब्दकल्पद्रुम
शोधनार्थं ममैव च।—वाल्मीकि-रामायण, ७।९५।६
८. मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा।—रामचरितमानस, ५।५।३
९. सोधि सुमृति सब बेद पुराना।—रामचरितमानस, २।१७०।३
१०. तात धरम मतु तुम्ह सबु सोधा।—रामचरितमानन, २।९५।१
११. ब्रह्मात्मनोः शोधितयोर्यदीत्थम्।—विवेकचूडामणि, २४३
तत्त्वंपदार्थशोधनम्।—वेदान्तसार, पृ० ९
जिन्ह जग मगु परमारथु सोधा।—रामचरितमानस, २।२७८।१

'शोध' शब्द में ही है। आधुनिक हिंदी में 'रिसर्च' के लिए 'शोध' का, 'रिसर्चर' के लिए 'शोधकर्ता' का, और 'रिसर्च स्टूडेन्ट' के लिए 'शोधछात्र' का अबाध व्यवहार हो रहा है। 'थीसिस' के लिए तो 'शोधप्रबंध' शब्द पूर्णतया प्रतिष्ठित है ही।

अनुसंधान—'धा' धातु का अर्थ है—रखना, (दृष्टि आदि को किसी वस्तु पर) स्थिर करना, किसी ओर (मन आदि को) लगाना, धारण करना। 'संधान' का अर्थ है—संयोजन; लक्ष्य बांधना, निशाना लगाना। 'अनुसंधान' के अर्थ हैं—पीछे लगना, सोचना-विचारना, लक्ष्य बनाना;[1] चिंतन या धारावाहिक चिंतन;[2] अन्वेषण, निरीक्षण-परीक्षण, निर्धारण, प्रमाणोल्लेखन;[3] योजना बनाना, प्रबंध या व्यवस्था करना;[4] उपनय। आधुनिक 'रिसर्च' की अधिकांश विशेषताएँ (विषयविशेष को निश्चित लक्ष्य बनाकर उसका अविच्छिन्न चिंतन, तदुपयोगी सामाग्री का मनोयोगपूर्वक अन्वेषण, उसका निरीक्षण-परीक्षण, तथ्यों के संबंध का आख्यान, प्रमाणों का उल्लेख, प्रतिपाद्य विषय का योजनानुसार व्यवस्थित प्रतिपादन) परंपरया व्यवहृत 'अनुसंधान' शब्द में न्यूनाधिक रूप से पायी जाती हैं। अतः 'अनुसंधान' शब्द 'रिसर्च' का निकटतम पर्याय है।

'रिसर्च' के पर्यायवाची 'अनुसंधान' का परिनिष्ठित अर्थ है—किसी महत्त्वपूर्ण सुनिश्चित विषय का तत्त्वाभिनिवेशी वैज्ञानिक अध्ययन; तत्संबंधी तथ्यों का व्यवस्थित ढंग से अन्वेषण, निरीक्षण-परीक्षण तथा वर्गीकरण-विश्लेषण और उनके आधार पर प्रस्थापनयोग्य निष्कर्षों का प्रमाणनिर्देशपूर्वक तर्कसंगत उपस्थापन। अपने व्यापक अर्थ में 'अनुसंधान' डॉक्टरेट से अविनाभावेन संबद्ध नहीं है। श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पं० परशुराम चतुर्वेदी आदि ने भी अनुसंधान किया है। उन्होंने उपाधि-प्राप्ति को अनुसंधान का लक्ष्य नहीं बनाया। उनका अनुसंधान उपाधिनिरपेक्ष है। जो अनुसंधान उपाधि की कामना से किया जाता है वह उपाधि-सापेक्ष है। प्रस्तुत प्रसंग में 'उपाधि' शब्द अँगरेजी 'डिग्री' का पर्याय है। अनुसंधान और आलोचना के संदर्भ में उपाधि-सापेक्ष अनुसंधान का 'सोपाधिब्रह्म' के साथ गँठबंधन विज्ञान और दर्शन के विषय में अनभिज्ञता का सूचक है। वेदांत के अनुसार उपाधि-सापेक्ष और उपाधि-निरपेक्ष दोनों ही प्रकार के अनुसंधान 'उपाधि' के ही अंतर्भूत हैं। ब्रह्मवादी शंकराचार्य ने तो मोक्षशास्त्रों को भी अविद्यावद्विषयाणि कहा है। तो फिर कामरति के कवियों पर किये गये

---

१. हृदय न कछु फल अनुसंधाना।—रामचरितमानस, १।१५६।१

२. स्वार्थानुसन्धानगुणेन चित्तम्।—विवेकचूडामणि, ९६
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।—विवेकचूडामणि, ३२

३. यस्तर्केणानुसन्धत्ते—मनुस्मृति, १२।१०६
पुरावृत्तकथानुसन्धेया—कुमारसम्भव, १।२१ पर मल्लिनाथ

४. दुर्गशोधनमनुसन्धातव्यम्।—हितोपदेश

उपाधि-निरपेक्ष अनुसंधान को 'निरुपाधि' कैसे कहा जा सकता है ? अस्तु । अपने संकुचित अर्थ में 'अनुसंधान' शब्द 'उपाधि-सापेक्ष अनुसंधान' के अर्थ में भी प्रायः रूढ़ हो चला है। इस दृष्टि से 'अनुसंधान' में अनुसंधेय विषय का चिंतन, अनुसंधान की प्रविधि-प्रक्रिया और शोधप्रबंध का प्रणयन इन सबका समाहार है। अनुसंधान के धर्मों का निरूपण एक प्रकार से शोधप्रबंध के धर्मों का ही निरूपण है।

विश्वविद्यालयों की नियमावली में अनुसंधान अर्थात् शोधप्रबंध के आवश्यक धर्मों का विधान प्रायः एक ही प्रकार की शब्दावली में किया गया है। उनकी प्रतीति के लिए निम्नांकित तीन उद्धरण पर्याप्त होंगे—

(१) 30. The thesis shall comply with the following conditions to merit the award to the Degree :

(a) It must be a piece of research work, characterised either by the discovery of new facts or by a fresh approach towards interpretations of facts and theories, and shall state the material published or unpublished used by the candidate.

(b) It should evince the candidate's capacity for critical examination and judgement.

(c) It shall also be satisfactory so far as its literary presentation is concerned.

—Banaras Hindu University

(२) The thesis shall comply with the following conditions :

(i) It must be a piece of research work characterised either by the discovery of facts or by a fresh approach towards the interpretation of facts or theories. In either case it should evince the candidate's capacity for critical examination and sound judgement. The candidate shall communicate how far the thesis embodies the result of his own observations and in what respects his investigations appear to him to advance the knowledge in the subject.

(ii) It shall be satisfactory so far as its literay presentation is concerned and must be in a form suitable for publication.

—Agra University

(३) 12. The candidate shall supply 4 printed or typed copies of his thesis which shall comply with the following conditions :—

It must be a piece of research work characterised either by the discovery of new facts, or by a fresh interpretation of facts or theories; in either case it should evince the candidate's capacity for critical examination and judgement. It shall also be satisfactory so far as its literary presentation is concerned.

13. The candidate shall indicate how far the thesis embodies the result of his own research or observation and in what respects his investigations appear to him to advance the study of the subject of his thesis.

—Delhi University

उपर्युक्त उद्धरणों का तात्पर्य यह है कि शोधप्रबंध में तीन गुणों का होना आवश्यक है—

१. नवीन (अज्ञात) तथ्यों की खोज अथवा (ज्ञात) तथ्यों और सिद्धांतों का नवीन दृष्टि से आख्यान।

२. आलोचनात्मक परीक्षण और ठोस निर्णय।

३. साहित्यिक दृष्टि से संतोषप्रद उपस्थापन-शैली।

इन विशेषताओं की विस्तृत विवेचना आगे की जाएगी। यहाँ पर केवल 'नवीन'-संबंधी तीन बातों की ओर ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक है—

१. 'नवीन' शब्द मौलिकता का द्योतक है। मौलिकता या तो तथ्यों के अन्वेषण में हो सकती है या आख्यान-दृष्टि में। इन दोनों के बाहर मौलिकता ढूँढ़ना निष्फल है।

२. 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार' भी नवीनता के ही अंतर्गत है। जो तथ्यान्वेषण अथवा तथ्याख्यान ज्ञान-विस्तार नहीं करता वह अनुसंधान का विषय होने के योग्य ही नहीं है। अनुसंधेयविषय-संबंधी तथ्य और आख्यान की नवीनता ज्ञान-विस्तार ही है। यही कारण है कि दिल्ली विश्वविद्यालय की नियमावली के १२वें अनुच्छेद में ज्ञान-क्षेत्र के सीमा-विस्तार का उल्लेख नहीं किया गया है। अभ्यर्थी को यह बतला देना चाहिए कि उसके शोधप्रबंध में उसके निजी अनुसंधान की निबंधना कहाँ तक हुई है, और वह प्रस्तुत विषय के अध्ययन या ज्ञान को किन रूपों में (कहाँ तक) अग्रसर करता है—इस निर्देश का तात्पर्य उपर्युक्त नवीनता का स्पष्टीकरण ही है।

३. 'नवीन दृष्टि से आख्यान' की चरितार्थता आख्यात तथ्यों एवं सिद्धांतों के विषय में ही है। अनाख्यात तथ्यों एवं सिद्धांतों का आख्यान तो नवीन होता ही है।

सत्य और तथ्य

अनुसंधान सत्य का अन्वेषण है। उसका साधन है—तथ्य। सत्य और तथ्य क्या हैं? इनके स्वरूप-निरूपण के लिए संस्कृत और अँगरेजी का सहारा लेना पड़ेगा।

१. पहले दोनों का व्युत्पत्त्यर्थ अवधारणीय है। 'सत्' का अर्थ है—अस्तित्ववान्। अर्थात् जिसका वस्तुतः अस्तित्व है, वह 'सत्' है (सते हितं यत्)। 'सत्' ही 'सत्य' है।[1] 'तथ्य' का शब्दार्थ है—जैसा है ठीक वैसा ही होने का भाव (तथा साधु यत्), अर्थात् यथार्थता।

२. शास्त्रों में 'सत्य' की व्याख्या दो दृष्टियों से की गयी है—पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक दृष्टि से, जिस पदार्थ के निश्चित (अवधारित) रूप में किसी प्रकार का विकार नहीं होता, वह सत्य है।[2] **'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म'** (तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१) में 'सत्य' का यही अर्थ है। व्यावहारिक दृष्टि से, प्रमाण (प्रत्यक्ष आदि) के द्वारा ज्ञात अर्थ का उसी प्रकार भाषण 'सत्य' है।[3] शंकराचार्य ने कहा है कि देखने और सुनने से अपने को जिस प्रकार का अनुभव हुआ हो उसको दूसरे की बुद्धि तक पहुँचाने के लिए उसी प्रकार कही जाने वाली वाणी 'सत्य' है।[4] संक्षेप में, तथ्य की यथार्थाभिव्यक्ति को या (और भी संक्षेप में) यथार्थ कथन को 'सत्य' कहते हैं।[5] 'सत्य' के इस अर्थ का संकोच भी हुआ है और विस्तार भी। **सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्**[6] एवं **हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः**[7] के सिद्धांत को अनिवार्य बनाने के अभिलाषी धर्मदेशकों ने प्रियत्व और कल्याणकरत्व को भी सत्य का व्यावर्तक धर्म माना है।[8] 'सत्य' केवल वाचनिक अभि-

---

१. सदेव सत्यम्।—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१ पर शांकरभाष्य
२. यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्।
—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१ पर शांकरभाष्य
३. सत्यं प्रमाणेनाववुद्धस्यार्थस्य तथैव भाषणम्।—गीता, १०।४ पर गूढार्थदीपिका
४. यथादृष्टस्य यथाश्रुतस्य च आत्मानुभवस्य परबुद्धिसंक्रान्तये तथा एव उच्चार्यमाणा वाक् सत्यम्।—गीता, १०।४ पर शांकरभाष्य।
५. देखिए—मनुस्मृति, ६।९२ पर मन्वर्थदीपिका।
६. मनुस्मृति, ४।१३८
७. किरातार्जुनीय, १।४, १४।६३
८. सत्यं यथार्थप्रियवचनम्।—याज्ञवल्क्यस्मृति, ३।६६ पर मिताक्षरा
सत्यं यथादृष्टविषयं भूतहितरूपं वचनम्।—गीता, १०।४ पर रामानुज-भाष्य

व्यक्ति और आचरण का ही नहीं, तदनुकूल मनोवृत्ति का भी ज्ञापक है।[1] इस प्रकार 'सत्य', अपने विस्तृत अर्थ में, यथार्थ वाचनिक अभिव्यक्ति, तदनुकूल मनोवृत्ति, उसीके अनुसार आचरण और इन सबकी समष्टि का भी द्योतन करता है।

३. 'सत्य' और 'तथ्य' पर्यायवाची भी हैं।[2] 'असत्य' के पर्यायरूप में व्यवहृत 'वितथ' शब्द वस्तुतः 'तथ्य' का ही विलोम है। 'अभिज्ञानशाकुंतल' के प्रथम अंक में दुष्यंत की उक्ति है—**प्रियमपि तथ्यमाह प्रियंवदा**। यहाँ पर 'तथ्य' का अर्थ है—सत्य। कालिदास ने स्वयं ही इसका संकेत कर दिया है—**तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या**।[3] मल्लिनाथ की टीका में उसका स्पष्टीकरण भी विद्यमान है—**अमिथ्या सत्यम्**। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—**तथ्यं सत्यम्**।[4] 'मनुस्मृति' (८।२७४) में प्रयुक्त 'तथ्येनापि ब्रुवन्' की मन्वर्थदीपिका में कुल्लूकभट्ट ने भी 'तथ्य' का अर्थ 'सत्य' ही किया है। शब्दकल्पद्रुम, शब्दसागर आदि में भी 'सत्य' का अर्थ 'तथ्य' और 'तथ्य' का अर्थ 'सत्य' बतलाया गया है।

४. परंतु, इन व्याख्याओं के आधार पर आधुनिक अनुसंधान की आलोचना में व्यवहृत 'सत्य' और 'तथ्य' का सम्यक् स्वरूप-निरूपण नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक शोध के संदर्भ में प्रयुक्त इन शब्दों का बहुत-कुछ अर्थ-परिवर्तन हो चुका है।

५. हिंदी के एक प्रसिद्ध आचार्य ने एक विद्वत्संगोष्ठी के अवसर पर तथ्य और सत्य का भेद-निरूपण करते हुए कथन किया—तथ्य केवल बोध (ऐंद्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय) का विषय है, और सत्य अनुभूति (अर्थात् मर्म-साक्षात्कार) का विषय है। एक उदाहरण देकर उन्होंने अपने गृहित आशय का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया। मान लीजिए कि दो मालगाड़ियाँ लड़ गयीं। उन गाड़ियों पर जिसका माल नहीं लदा था, जिसकी कोई हानि नहीं हुई, उसे इस दुर्घटना का अवबोध होता है। उसके लिए यह दुर्घटना **तथ्य** है। जिसका माल लदा हुआ था, जिसकी हानि हुई, उसे इस दुर्घटना की अनुभूति होती है। उसके लिए यह दुर्घटना **सत्य** है।

मेरे विचार से, उपर्युक्त दर्शनाभास-कल्पित कथन न तो शास्त्रसंमत है, और न तर्कसंगत। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि 'अवबोध' और 'अनुभव' के आधार पर ही विख्यात दर्शनशास्त्रज्ञ शंकराचार्य ने 'ज्ञान' और 'विज्ञान' का भेद निरूपित किया था—

---

१. तदनुगुणा मनोवृत्तिः इह अभिप्रेता।—गीता, १०।४ पर रामानुज-भाष्य
२. सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्—अमरकोश, १।६।२३
३. रघुवंश, १४।६
४. सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन। (कुमारसम्भव, ३।६३) पर मल्लिनाथ की टीका

ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतश्च आत्मादीनामवबोधः विज्ञानं विशेषतस्तदनुभवः। ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानं विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथा एव स्वानुभवकरणम्।[१]

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शंकराचार्य ने 'अवबोध' और 'अनुभव' की बात दार्शनिक दृष्टि से कही थी और अनुसंधान के विवेचन में 'सत्य' तथा 'तथ्य' का प्रयोग आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से किया जाता है। विज्ञान का जगत् भौतिक जगत् है। भौतिक जगत् में 'तथ्य' और 'सत्य' दोनों ही वस्तुपरक हैं। आत्मपरकता का महत्त्व काव्य और दर्शन में है। दर्शन के गज से वैज्ञानिक शब्दावली की नाप-जोख कथमपि विवेक-संगत नहीं है।

६. वास्तविकता यह है कि अनुसंधान के संदर्भ में प्रयुक्त 'तथ्य' और 'सत्य' शब्द क्रमशः fact और truth के हिंदी-पर्याय हैं। अँगरेजी के आप्त कोशग्रंथों में इन शब्दों का सर्वमान्य प्रामाणिक विवेचन किया गया है। उसके अपेक्षित अंशों को यहाँ उद्धृत कर देना उपयोगी होगा—

Fact : 3. a : something that has actual existence; event

b : an occurrence, quality or relation the reality of which is manifest in experience or may be inferred with certainty; specif : an actual happening in time or space (fact in its primary meaning, as an object of direct experience, is distinguished from truth)

4 b : physical actuality or practical experience as distinguished from imagination, speculation or theory.

5 : an assertion, statement, or information containing or purporting to contain something having objective reality.

True : conformable to fact; in accordance with the actual state of affairs; not false or erroneous; not inaccurate.

Truth : 1 b : sincerity in character, action and speech; genuineness in expressing feeling or belief.

2 : something that is true or held to be true : as—

a (1) : the real state of affairs;
something that is the case : Fact.

---

१. क्रमशः —गीता, ३।४१ और ६।८ पर शांकरभाष्य

(3) often cap : a fundamental or spiritual reality conceived of as being partly or wholly transcendent of perceived actuality; an experience.

b 2 : a judgment, proposition, statement or idea that accords with fact or reality, is logically or intuitively necessary or follows by sound reasoning from established or necessary truths.

c : the body of true statements and propositions; also : the body of statements and propositions accepted, studied, or proved in a field.[1]

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी आदि में भी इसी से मिलती-जुलती व्याख्या द्रष्टव्य है।

अनुसंधान की दृष्टि से उपर्युक्त उद्धरणों का निष्कर्ष इस प्रकार है। 'तथ्य' के अर्थ हैं—भौतिक वास्तविकता; यथार्थ घटना; प्रत्यक्षानुभव; वस्तुनिष्ठ यथार्थता पर आश्रित वृत्तांत या कथन। कल्पना, गल्प, मत, सिद्धांत आदि से वह स्वभावतः भिन्न है। 'सत्य' के अर्थ हैं—यथातथ्य; तथ्यानुरूपता; तथ्य या यथार्थ के अनुरूप अथवा प्रस्थापित तथ्यों के आधार पर आभास-रहित तर्क द्वारा साधित निर्णय, प्रतिज्ञा, कथन या विचार; यथातथ्य अथवा स्वीकृत, अधीत या सिद्ध कथनों और प्रतिज्ञाओं का समुदाय। तात्पर्य यह कि भौतिक जगत् की यथार्थ घटना, वृत्तांत या कथन 'तथ्य' है, और उस तथ्य या उस प्रकार के तथ्यों के आधार पर किया गया तर्कसंगत कथन या निर्णय 'सत्य' है। सत्य और तथ्य परस्परपूरक हैं, विरोधी नहीं हैं। जिस 'सत्य' की 'तथ्य' से विलोमता बतलायी गयी है वह आध्यात्मिक सत्य (Divine Truth) है।

इस प्रकार 'तथ्य' भौतिक, लौकिक या प्रत्यक्षविषय होता है, और आध्यात्मिक 'सत्य' अभौतिक, अलौकिक (Transcendental) या अपरोक्षानुभूत होता है। अपनी इस विशेषता के कारण ही वह (Truth) बड़ी 'टी' से लिखा जाता है। विज्ञान का 'सत्य' (truth of science) तथ्यपरक ही होता है, अलौकिक नहीं। प्रत्येक घटना (मालगाड़ी की दुर्घटना भी घटना ही है) प्रत्येक व्यक्ति के लिए (चाहे उसके माल की हानि हुई हो या न हुई हो) और सदैव 'तथ्य' ही है। उसके आधार पर किया गया विचार, कथन या निर्णय ही 'सत्य' कहलाएगा। लोक में 'सत्य' और 'तथ्य' का पर्यायवाची व्यवहार होने के कारण घटना के संबंध में भी 'सत्य' का प्रयोग कर दिया जाता है। इस संबंध में यह अवेक्षणीय है कि 'सत्य' का

---

1. Webster's Third New International Dictionary of the English Language.

यह प्रयोग प्रायः विशेषण-रूप में ही होता है, संज्ञा-रूप में नहीं।

शोधप्रबंध में तथ्यों के आधार पर सत्य या सत्यों की प्रस्थापना की जाती है। एक उदाहरण लीजिए। तुलसीदास का दर्शन समन्वयवादी दर्शन है—यह तर्क-संगत प्रस्थापना 'सत्य' है। विभिन्न शास्त्रों और तुलसी-साहित्य से संगृहीत वे उल्लेख जिनके आधार पर यह प्रस्थापना की गयी है, 'तथ्य' हैं। तथ्य अनंत हैं। वेदांत में सत्य एक ही है, किंतु विज्ञान में सत्य भी अनेक हैं। 'truths of science' (विज्ञान के सत्य) का व्यवहार इसी आधार पर किया जाता है। एक ही शोध-प्रबंध में अनेक सत्यों की प्रस्थापना की जाती है। तुलसी की जन्मभूमि, तुलसी का परिवार, तुलसी का जीवनवृत्त, तुलसी की रचनाएँ, तुलसी भक्तकवि हैं, इत्यादि—इन सबकी अलग-अलग प्रतिज्ञा भी सत्य है और सबका समुदाय भी सत्य है। इनकी प्रस्थापना के साधनरूप में अधीत सोरों आदि की सामग्री, गज़ेटिअर आदि के उल्लेख, तुलसी की उक्तियाँ, आदि—ये सब तथ्य हैं।

तथ्य के आधार पर सत्य का कथन किया जाता है। और, उस सत्य के आधार पर दूसरे सत्य का भी कथन किया जा सकता है। एक आचार्य का कहना है कि जब एक सत्य के आधार पर दूसरे सत्य की प्रस्थापना की जाती है तब पहला 'सत्य' 'तथ्य' हो जाता है। उनका यह मत सुविचारित नहीं है। यथार्थ यह है कि सत्य 'सत्य' ही रहता है, वह 'तथ्य' नहीं हो जाता। तथ्य के आधार पर प्रस्थापित 'सत्य' के आधार पर भी दूसरे सत्य की प्रस्थापना की जाती है। वस्तुतः दोनों ही सत्यों का मूलाधार तथ्य होता है। सत्य की परंपरा मात्र पूर्वप्रतिज्ञात 'सत्य' के स्वरूप को परिवर्तित नहीं करती। हाँ, उपलब्ध तथ्यों के आधार पर प्रस्थापित आज का 'सत्य' नये तथ्यों के प्रकाश में कल असत्य साबित हो सकता है। उस असत्य को 'तथ्य' कहा जा सकता है। लेकिन स्वीकृत सत्य को 'सत्य' कहना ही न्यायसंगत है।

अनुसंधान के स्वरूप के विषय में एक और प्रश्न विचारणीय है—अनुसंधान विज्ञान है या कला? उत्तर के पहले ही एक प्रश्न उठता है—'विज्ञान' और 'कला' क्या हैं? यहाँ पर यह बतला देना समीचीन होगा कि प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त इन शब्दों का प्रत्यय संस्कृत-वाङ्मय में बहुशः व्यवहृत 'विज्ञान' और 'कला' की अव-धारणा से बहुत भिन्न है। ये शब्द क्रमशः अँगरेजी के 'साइन्स' और 'आर्ट' के हिंदी-रूपांतर हैं। व्यवस्थित ज्ञान को 'साइन्स' कहते है। उस ज्ञान का सुष्ठु प्रयोग 'आर्ट' है। इस प्रकार विज्ञान और कला एक-दूसरे के पूरक हैं। विज्ञान के जगत् में भी कला का महत्त्व है। उदाहरण के लिए—व्यवस्थित ज्ञान की वह संपूर्ण संतति, जिसके आधार पर रॉकेट की रचना की जाती है, 'विज्ञान' है; किंतु उस ज्ञान का प्रयोग अर्थात् रॉकेट की रचना कला है। विज्ञान-तत्त्व की प्रधानता के कारण उसके कार्य को भी 'विज्ञान' कह दिया जाता है।

किसी-किसी ने अनुसंधान को 'कला का विज्ञान' कहा है। यह कथन केवल साहित्यिक विवेचन-संबंधी अनुसंधान के विषय में है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अनुसंधान वह विज्ञान है जिसका विज्ञातव्य विषय कला है। इस कथन में अव्याप्ति दोष है। पाठालोचन और भाषावैज्ञानिक अनुसंधान इसकी परिधि के बाहर हैं। इसलिए अनुसंधान को कला का विज्ञान मात्र कह देने से प्रश्न का समाधान नहीं होता।

अनुसंधान की प्रक्रिया के दो स्पष्ट भाग हैं—१. व्यवस्थित अन्वेषण, चिंतन या ज्ञान और २. उस ज्ञानोपलब्धि का शोधप्रबंध के रूप में उपस्थापन। अनुसंधान का पहला भाग विज्ञान है और दूसरा भाग कला। 'अनुसंधान' शब्द अपने व्यापक अर्थ में इन दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता है। अतः इस दृष्टि से, उसे (विशेषकर साहित्यिक अनुसंधान को) विज्ञान और कला दोनों मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। किंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि शोधप्रबंध में इस 'कला' की कलात्मकता विज्ञान की तुलना में गौण है। किसी अन्य विषय के शोधप्रबंध की अपेक्षा साहित्यिक शोधप्रबंध में कलात्मकता अधिक होती है; दर्शन, इतिहास आदि के प्रबंध में उससे कम, और विज्ञान के प्रबंध में उससे कम—इतनी कम कि उसकी कलात्मकता को हम भूल ही जाते हैं।

एक उपप्रश्न उठता है—जब अनुसंधान विज्ञान और कला दोनों ही है तब फिर उसे 'विज्ञान' क्यों कहा जाता है? उत्तर है—विज्ञान-तत्त्व की प्रधानता के कारण। **प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।** अनुसंधान के क्रम में विषय-निर्वाचन से लेकर शोधप्रबंध की समाप्ति तक वैज्ञानिक प्रविधि और प्रक्रिया का पालन किया जाता है। प्रबंध-शैली की साहित्यिकता या कलात्मकता उसका केवल उत्कर्षक गुण है।

अनुसंधान और आलोचना

इस विवेचन के आरंभ में दो बातों की ओर संकेत कर देना वाजिब है। १. अनुसंधान और आलोचना के परस्पर संबंध और सापेक्ष महत्त्व की विचार-चर्चा साहित्यिक अनुसंधान और साहित्यिक आलोचना से ही विशेष संबंध रखती है। ऐसी स्थिति में हिंदी-साहित्य-संबंधी पाठानुसंधान और शुद्ध भाषावैज्ञानिक अनुसंधान भी इस विवेचन की परिधि के अंतर्गत नहीं आते। साहित्येतर विषयों के अनुसंधान का तो प्रश्न ही नहीं उठता। २. अनुसंधान और आलोचना के व्युत्पत्त्यर्थ, परिनिनिष्ठित रूप, प्रतिपाद्य विषय, प्रतिपादन-पद्धति, प्रयोजन और अधिकारी के परिज्ञान की भूमिका में ही दोनों के साम्य-वैषम्य, परस्परसंबंध तथा सापेक्ष महत्त्व की सम्यक् अवधारणा की जा सकती है।

'अनुसंधान' के अर्थ की विवृति की जा चुकी है। 'आलोचना' का अर्थ विचा-

रणीय है। लोक-जीवन में 'आलोचना' का सामान्य व्यवहार गुण-दोष-चर्चा अथवा केवल दोष-चर्चा के अर्थ में किया जाता है। आधुनिक हिंदी-साहित्य में प्रचलित 'आलोचना' का अर्थ है—ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों, रचनाकार के व्यक्तित्व, सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान आदि की भूमिका में किसी रचनाकार की प्रवृत्तियों तथा अंतर्वृत्तियों और रचना के गुणदोषों का विवेचन एवं उसका उचित मूल्यांकन। अपने इस आधुनिक अर्थ में यह संस्कृत-शब्द संस्कृत-वाङ्मय में नहीं व्यवहृत हुआ।

'लोच्' (या लुच्) धातु का अर्थ है—देखना, प्रत्यक्षानुभव करना, निरखना। 'लोचन' का अर्थ है—ईक्षण; देखने वाला, जिसके द्वारा देखा जाए।[1] 'आलोचन' या 'आलोचना' के माने हैं—देखना-परखना; निर्विकल्प प्रत्यक्षानुभव;[2] भावन, निरूपण;[3] सर्वेक्षण, मानसबिंब-निर्माण।[4] इस प्रसंग में अभिनव गुप्त का 'लोचन' शब्द विशेष विचारणीय है—

यत्किंचिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्यालोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य।,
किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥ —ध्वन्यालोकलोचन, पृ० २, १६४

लोचनकार ने यहाँ पर लोचन के दो कार्य बतलाये हैं—१. काव्यालोक का स्पष्टीकरण, विवृति और २. उसके द्वारा पाठक को वह दृष्टि प्रदान करना जिसकी सहायता से वह काव्यालोक की सम्यक् प्रतीति कर सके। आधुनिक आलोचना में भी इन दो मूल धर्मों का निर्वाह किया जाता है। मूल्यांकन और कलात्मकता के तत्त्व उसमें विशेष रूप से जोड़ दिये गये हैं। यह अँगरेजी की देन है।

वास्तविकता यह है कि हिंदी का तत्सम 'आलोचना' शब्द अँगरेजी के 'क्रिटिसिज़्म' (criticism) का भाषांतर है। सामान्य (विस्तृत) अर्थ में आलोचना के विषयों की कोई परिधि नहीं है। विशिष्ट (संकुचित) अर्थ में, किसी कलाकृति अथवा साहित्यिक रचना के औचित्यपूर्ण एवं सारगर्भित विश्लेषण या मूल्यांकन को 'आलोचना' कहते हैं। साहित्यिक प्रलेखों के मूल, पाठ, रचना, प्रकृति, इतिहास आदि के संबंध में की गयी वैज्ञानिक गवेषणा भी 'आलोचना' मानी गयी

---

१. रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक्तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयस्साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥—दृग्दृश्यविवेक, १

२. सम्मुग्धवस्तुदर्शनमालोचनम्।—सांख्यकारिका, २८ पर सांख्यतत्त्वकौमुदी

३. आलोचयन्तो निरूपयन्तः—भट्टिकाव्य, ७।४० (आलोचयन्तो विस्तारमम्भसां) पर जयमङ्गला

४. सृज्यमानजगद्रचनाविषयामालोचनामकरोत्।
—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।६।१ पर शांकरभाष्य

से परस्परसंबद्ध हैं। अर्थात् उत्तम कोटि के अनुसंधान में आलोचना की, और उत्तम कोटि की आलोचना में अनुसंधान की अनेक प्रमुख विशेषताओं की सत्ता अनिवार्य है।

इन समानताओं के कारण किसी-किसी को यह स्वाभाविक भ्रांति हो जाती है कि अनुसंधान और आलोचना पर्याय हैं, शोधप्रबंध और आलोचनाग्रंथ अभिन्न हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। दोनों में तात्त्विक भेद है—

१. **व्युत्पत्त्यर्थ**—व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार दोनों में भेद है। अनुसंधान में 'संधान' पर विशेष बल है। उसमें लक्ष्यबंधान आवश्यक है। निर्दिष्ट लक्ष्य पर दृष्टि को केंद्रित करके मनोयोगपूर्वक सूक्ष्म अन्वेषण अनिवार्य है। 'अनु' के द्वारा चिंतन की धारावाहिकता, पौनःपुनिकता, का भी संकेत किया गया है। आलोचना में 'लोचन' पर बल है। उसमें निरीक्षण-परीक्षण की प्रधानता है। 'आ' उपसर्ग समंतता, व्यापकता या सर्वेक्षण का द्योतक है। आलोचक लक्ष्यविशेष के तंत्र में बँधने के लिए बाध्य नहीं है। वह स्वतंत्र है।

२-३. **स्वरूप और प्रविधि-प्रक्रिया**—अनुसंधान स्वरूपतः विज्ञानप्रधान है, बुद्धिप्रधान है, चिंतन से ओतप्रोत है। उसकी संपूर्ण प्रविधि-प्रक्रिया वैज्ञानिक है। इसीलिए उसमें तथ्यशोध और वस्तुनिष्ठता के प्रति विशेष आग्रह है। तथ्यों के संग्रह, वर्गीकरण और विश्लेषण में वैज्ञानिकता का निर्वाह आवश्यक है। निष्कर्षों की स्थापना में तर्कसंगति अपेक्षित है। अनुसंधाता को अपने मत के समर्थन में पुष्ट प्रमाण देना पड़ता है। अपेक्षित उद्धरण और संदर्भोल्लेख शोधप्रबंध की अपरिहार्य शर्तें हैं। संदर्भनिर्देशरहित प्रबंध को 'शोधप्रबंध' कहना इस शब्द का दुरुपयोग करना है। संदर्भोल्लेख का अधूरापन भी दोष ही है। अनुसंधाता को विषयांतर और कल्पना-विलास करने का कोई अधिकार नहीं है (तथ्यविशेष के अभाव में पूर्वापरसंबंध मिलाने के लिए प्रतिभा का उपयोग अनुसंधान की आवश्यकता है; वह कल्पना-विलास नहीं है।) अध्यायों के विभाजन एवं उपविभाजन में आनुपातिक औचित्य की रक्षा करनी पड़ती है। शोधप्रबंध के पूर्वानुबंध के रूप में संकेत-सूची, विषय-सूची और प्राक्कथन की; तथा पश्चानुबंध के रूप में ग्रंथसूची और अनुक्रमणिका की योजना भी उसकी वैज्ञानिक व्यवस्था का अंग है। उपस्थापन-शैली की साहित्यिकता या कलात्मकता शोधप्रबंध का गौण एवं तटस्थ (कादाचित्क) लक्षण है। इस वैकल्पिक धर्म के पालन की वांछनीयता केवल साहित्यिक-विवेचन-संबंधी शोधप्रबंधों में है। उनमें भी भावात्मकता, प्रभावात्मकता, आलंकारिकता आदि के लिए आदरणीय स्थान नहीं है। इसीलिए विश्वविद्यालयों की नियमावली में कलात्मकता या रमणीयता का उल्लेख न करके 'साहित्यिक उपस्थापन की दृष्टि से संतोषप्रद' होने की बात कही गयी है। पाठानुसंधान और भाषावैज्ञानिक अनुसंधान कलात्मकता के आग्रह से मुक्त हैं ही।

आलोचना स्वरूपतः कलाप्रधान होती है। आलोचक अपनी आलोच्यविषयक मर्मानुभूति को पाठकों द्वारा तदनुरूप ग्राह्य बनाने के लिए अपनी रचना में साहित्यिक अभिव्यक्ति की प्रभावोत्पादक विधाओं का भरपूर उपयोग करता है। उसमें रसात्मकता और भावात्मकता की विशेषता होती है। इसीलिए कुछ विद्वान् आलोचना की गणना साहित्य की काव्यात्मक कोटि में करते हैं। आलोचना के लिए भी तथ्याधार आवश्यक है; परंतु, उसमें तथ्यशोध और वस्तुनिष्ठता के प्रति विशेष आग्रह नहीं है। वह विषयिप्रधान भी हो सकती है। असंबद्ध तथ्यों की शृंखला मिलाने के लिए उसमें कल्पना का स्वच्छंदतापूर्वक उपयोग किया जाता है। उसमें तार्किक पद्धति के अवलंबन का बंधन नहीं है। अपने गृहीत प्रभावों की निर्बंध अभिव्यंजना के लिए आलोचक स्वतंत्र है। वह अपने कथनों या निष्कर्षों की प्रमाण-पुष्टि के लिए उद्धरण देने या संदर्भोल्लेख करने को बाध्य नहीं है। जहाँ उद्धरण और संदर्भ दिये गये हैं वहाँ भी वैज्ञानिकता का निर्वाह प्रायः नहीं है। हिंदी की उत्तमोत्तम आलोचनाएँ भी अ-सत्यापित उद्धरणों एवं अधूरे संदर्भोल्लेखों से भरी पड़ी हैं। आलोचक के विषयांतर पर भी कोई प्रतिबंध नहीं है। वह दायें-बायें कुछ भी कहने का स्वयंसिद्ध अधिकार रखता है। इस प्रकार, स्वरूप और प्रविधि-प्रक्रिया की दृष्टि से भी अनुसंधान और आलोचना में भेद है।

४. विषय—दोनों में विषय-भेद भी है। विषयों के समष्टिरूप की दृष्टि से आलोचना और अनुसंधान में व्याप्य-व्यापक-संबंध है। हिंदी के आलोचना-ग्रंथों एवं शोधप्रबंधों के मिलान से ज्ञात होता है कि आलोचना के समस्त विषय अनुसंधान के वृत्त में समाविष्ट हैं। किंतु, अनुसंधान के अनेक विषय आलोचना के परिवेश में नहीं आते। शुद्ध भाषावैज्ञानिक अनुसंधान, और लोकसंस्कृति, इतिहास, शिक्षण आदि से संबंध रखनेवाले विषय निश्चय ही आलोचना के बहिर्भूत हैं। कोशग्रंथों में 'क्रिटिसिज्म' (आलोचना) के अंतर्गत परिगणित पाठानुसंधान भी आलोचना की सामान्यतः स्वीकृत परिभाषा के अनुसार आलोचना नहीं है। इन सब विषयों के अनुसंधान में आलोचना की उपयोगिता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि आलोचना अनुसंधान ही है। यथार्थ यह है कि शोधप्रबंध के संदर्भ में अनुसंधान अंगी है; आलोचना का सह-अस्तित्व उसके अंगरूप में ही है, तादात्म्यरूप से नहीं।

व्यष्टिरूप से, शोधप्रबंध का विषय (क्षेत्र) निश्चित रूप से लक्षित (Defined) होता है। अनुसंधाता को उसकी सीमित मर्यादा के भीतर कार्य करना पड़ता है। आलोचना-ग्रंथ में इस प्रकार की मेंड़बंदी नहीं होती। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति केवल साहित्यिक दृष्टि से **वाल्मीकि-रामायण और रामचरितमानस** के तुलनात्मक अध्ययन पर एक पुस्तक लिखता है और उसका नाम रखता है—'वाल्मीकि-रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन'। उसके इस

नाम में अतिव्याप्ति दोष है। परंतु, आलोचक ऐसा कर सकता है, करता है, बहुतों ने किया है। अनुसंधाता को यह अधिकार नहीं है। यदि वह अपने विषय का यही शीर्षक देता है तो उसे धर्म, दर्शन आदि की दृष्टि से भी अध्ययन करना पड़ेगा। यदि वह केवल साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन करना चाहता है तो उसे विषय का शीर्षक देना चाहिए—'वाल्मीकि-रामायण और रामचरितमानस का साहित्यिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन'।

५. प्रयोजन—दोनों में प्रयोजन-भेद भी है। अनुसंधान का प्रधान प्रयोजन ज्ञान-विस्तार है। इसीलिए विश्वविद्यालयों की नियमावली में इस शर्त का बल देकर उल्लेख किया गया है। आलोचना का मुख्य उद्देश्य साक्षात्कृत साहित्य-मर्म का संप्रेषण है। आलोचक का लक्ष्य है पाठकों को साहित्यिक कृति के सौंदर्य की उसी प्रकार अनुभूति कराना जैसी कि उसने स्वयं की है। (वैज्ञापनिक और परीक्षोपयोगी तथाकथित आलोचना का प्रयोजन इससे सर्वथा भिन्न है)।

अपने प्रयोजन के अनुरूप ही आलोचना भावयोगप्रधान होती है। अनुसंधान ज्ञानयोगप्रधान होता है। जहाँ आलोचना के द्वारा ज्ञान का सीमाविस्तार भी होता है, अथवा, जहाँ अनुसंधान के द्वारा मर्मानुभूति का संप्रेषण भी होता है, वहाँ दोनों का समन्वय है। उसे तादात्म्य समझना भ्रम है। साहित्यिकता-रहित शोध-प्रबंध (जैसे, उद्योग-शब्दावली आदि पर लिखित प्रबंध) दोनों की भिन्नता के अन्यतम प्रमापक हैं।

प्रासंगिक रूप से, अनुसंधान और आलोचना के संबंध में दो अन्य प्रश्न विचारणीय हैं। पहला प्रश्न है—क्या उत्तम अनुसंधान और उत्तम आलोचना अभिन्न हैं? इसका सीधा उत्तर है—अभिन्न नहीं हैं; भिन्न हैं। बड़ी विचित्र बात है कि एकाध आचार्य अनुसंधान और आलोचना में भेद मानते हुए भी उत्तम आलोचना और उत्तम अनुसंधान में अभेद मानते हैं। 'अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं'—इस सिद्धांत का प्रतिपादन कर देने के अनंतर वे यह भी प्रस्थापित कर देना चाहते हैं कि 'उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है।' मेरे विचार से, खींचतान करके भी दार्शनिक भेदाभेदवाद को इन भौतिक वस्तुओं पर नहीं घटाया जा सकता। हाँ, मध्व के दर्शन को द्वैताद्वैतवादी बतलाने वाले समर्थ विद्वान् यहाँ भी भेदाभेदवाद की प्रतिष्ठा करने का उद्योग कर सकते हैं। सत्य यह है कि उत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर भी अनुसंधान अनुसंधान ही रहता है; श्रेष्ठता की चरम सीमा पर पहुँचकर भी आलोचना आलोचना ही रहती है। शक्कर में मिलने पर घी शक्कर नहीं हो जाता, और घी में मिलने पर शक्कर घी नहीं बन जाती। वस्तुतः, दोनों का संमिश्रण होता है। संमिश्रण अभेद नहीं है। अनुसंधान और आलोचना की स्थिति भी ऐसी ही है।

श्रेष्ठ साहित्यिक अनुसंधान या श्रेष्ठ साहित्यिक आलोचना में दोनों का समन्वय होता है। समन्वय अभेद नहीं है।

दोनों के तथाकथित अभेद पर दूसरी दृष्टि से भी विचार कीजिए। अनुसंधान और आलोचना के लक्षण उनके उत्तम रूप को ही दृष्टि में रखकर बतलाये जाते हैं। यथार्थतः, किसी भी पदार्थ का लक्षण उसके उत्तम (शुद्ध) रूप को ही लक्ष्य बनाकर निर्धारित किया जाता है। अनुत्तम, निकृष्ट या अशुद्ध रूप के आधार पर परिभाषा नहीं बनायी जाती। एक उदाहरण से यह कथन स्पष्ट हो जाएगा। 'मनुष्य' की सामान्यतः स्वीकृत परिभाषा है—मनुष्य विवेकशील प्राणी है। 'मनुष्य' का यह लक्षण उत्तम मनुष्यों को ही लक्ष्य बनाकर किया गया है, अनुत्तम मनुष्यों के आधार पर नहीं। विवेकशीलता के धर्म से हीन हो जाने पर भी यह द्विपद प्राणी 'मनुष्य' ही कहलाता है। चारित्रिक गुणों के चरम उत्कर्ष की अवस्था में भी वह 'मनुष्य' ही रहता है। परमोदात्त मनुष्य के लिए 'देवता' या वज्रमूर्ख के लिए 'गर्दभ' का प्रयोग लाक्षणिक है। सच्चरित्रता की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए 'मनुष्य' और 'देवता' में अथवा मूर्खता के गर्त में गिरे हुए 'मनुष्य' तथा 'गर्दभ' में अभिन्नता नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह कि 'चरम परिणति' की स्थिति में भी मनुष्य स्वभावतः मनुष्य ही रहता है। अनुसंधान और आलोचना के विषय में भी यही सत्य है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं। उन्होंने अपनी आलोचना-कृतियों में 'मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन' किया है; 'आत्मा का अनुसंधान' किया है; 'तत्त्व-दर्शन' किया है। उनकी ये रचनाएँ आलोचना की उत्कृष्टतम कोटि में प्रतिष्ठित हैं; परवर्ती अनुसंधाताओं के विशालकाय शोधप्रबंधों की तुलना में अत्यंत गौरवशालिनी हैं। यह सब ठीक है। लेकिन, रहस्यों के उद्घाटन, आत्मा के अनुसंधान और तत्त्वों के दर्शन का आधार क्या है? तथ्य ही न! और, एक बार यह मान लेने पर कि उन रचनाओं में 'तथ्याधार स्पष्टतः दुर्बल है', यह भी मानना पड़ेगा कि उनकी अनुसंधानार्हता खंडित है। अनुसंधान के लिए प्रमाणपुष्ट तथ्यों का आधार अनिवार्य है। तथ्यों के संदर्भ का उल्लेख अनिवार्य है। संदर्भोल्लेख की पूर्णता अनिवार्य है। उल्लिखित रचनाओं के संस्करण आदि का निर्देश अनिवार्य है। विषय का सुनिश्चित परिसीमन अनिवार्य है। अभिधानानुसार विषय का तर्कसंगत विभाजन-उपविभाजन अनिवार्य है। शुक्लजी की आलोचनाओं में यह सब कहाँ है?

उन्होंने जायसी, सूर, तुलसी आदि के योगदान का सर्वेक्षण किया है। उनके साहित्य के विशिष्ट पक्षों का स्वतंत्रतापूर्वक मर्मोद्घाटन किया है। उस क्रम में संस्कृत, फारसी, अरबी, अँगरेजी आदि के वाङ्मय-स्रष्टाओं का नामोल्लेख किया है; उनके उद्धरण भी दिये हैं। किंतु, उनके संदर्भ कहाँ हैं? एकाध संदर्भ (और वे भी अधूरे) अपवाद-स्वरूप हैं। 'गोस्वामी तुलसीदास'-जैसी विख्यात कृति

संदर्भोल्लेख से सर्वथा शून्य है। उल्लिखित रचनाओं के संस्करण-निर्देश आदि की बात तो दूर ही रही। उनके दर्जनों उद्धरण भी अ-सत्यापित हैं। केवल स्मृति के आधार पर जो मन में आया, लिख दिया है। ये सब बातें अनुसंधान के विरुद्ध हैं; अनुसंधानोचित वैज्ञानिकता के प्रतिकूल हैं।

मेरी इस आलोचना का लक्ष्य शुक्लजी की रचनाओं का अवमूल्यन नहीं है। उन्हें 'आउट ऑफ़ डेट' मानने वालों को भी उनकी महत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। मैं तो उन्हें हिंदी का महत्तम आलोचक मानता हूँ; लेकिन, महत्तम अनुसंधाता नहीं। उनकी रचनाओं में आलोचना-तत्त्व प्रधान है, अनुसंधान-तत्त्व गौण है। अतएव वे अनुसंधानात्मक आलोचनाएँ हैं। उन्हें आलोचनात्मक अनुसंधान कहना भी न्यायसंगत नहीं है।

अनुसंधान और आलोचना के तात्त्विक भेद को न समझ कर उनके साधर्म्य पर ही दृष्टि को केंद्रित करने का, दोनों में अभेद की कल्पना के प्रचार का, एक घातक दुष्परिणाम यह होता है कि परिश्रमाधीना विद्या से कतराने वाले कल्पना-विहारी आलोचना की गप्पमार पद्धति को ही अनुसंधान का पक्का राजमार्ग मानने लगते हैं; तथ्यसंग्रह की कष्टकर साधना से पराङ्मुख उपाधि-लोभी अभ्यर्थी शक्तिमानों द्वारा अभिमंत्रित आलोचना के तावीज के सहारे अनुसंधान की महत्तम उपाधि प्राप्त करने के लिए आलोचना के लघुत्तम मार्ग का अनुसरण करने लगते हैं।

किसी भी प्रकार का अतिवाद हेय है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अतिशय तथ्यवाद से अनुसंधान की श्रेष्ठता प्रतिहत होती है। परंतु, दूसरी ओर, तथ्यों की अवहेलना और अतिशय आलोचनावाद से अनुसंधान का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। अनुसंधान के स्वरूप की रक्षा अनुसंधाता का प्रथम कर्तव्य है; उसके उत्कर्ष का विधान द्वितीयस्थानीय है।

दूसरा प्रश्न है—क्या आलोचना के विना भी अनुसंधान हो सकता है? उत्तर है—हो सकता है। (यह स्मरण रखना चाहिए कि 'विना' शब्द अत्यंताभाव का वाचक नहीं है; अतिगौणता का ज्ञापक है। तथ्यपरक प्रबंध में भी कुछ न कुछ आलोचना की सत्ता रहती ही है)। कारण स्पष्ट है। आलोचना अनुसंधान का अनिवार्य धर्म नहीं है, उसका उत्कर्ष-हेतु है—उसी प्रकार जिस प्रकार अलंकार अलंकार्य का उत्कर्षक होता है, अलंकार के विना भी अलंकार्य का अस्तित्व हो हो सकता है। विश्वविद्यालयों की अनुसंधान-नियमावली में अनुसंधाताओं की आलोचक-प्रतिभा वाली शर्त शोधप्रबंध की उत्कृष्टता को दृष्टि में रखकर लगायी गयी है। तथ्यों के संग्रह-त्याग, निरीक्षण-परीक्षण, वर्गीकरण-विश्लेषण आदि में आलोचना-शक्ति की उपयोगिता सर्वमान्य है। जिस शोधप्रबंध में प्रखर आलोचना-शक्ति का सदुपयोग करके तथ्यानुसंधान और निष्कर्ष-स्थापन किया जाता है, वह निश्चय ही श्रेष्ठ है। परंतु, यह कथन भी निस्सार नहीं है कि 'अनेक विषय

ऐसे हो सकते हैं जिनके अंतर्गत तथ्यान्वेषण से भी काम चल सकता है कम से कम पी-एच० डी० की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है।'

हिंदी में संदर्भ-ग्रंथों की बड़ी कमी है। जो हैं, वे भी अपूर्ण और दोषपूर्ण हैं। मेरा सुझाव है कि इस न्यूनता की पूर्ति के लिए, हिंदी-अनुसंधान के प्रामाणिक आधार के निर्माण के लिए, तथ्यशोध को भी प्रोतसाहन दिया जाए। विभिन्न प्रदेशों में उपलब्ध हिंदी-अनुसंधान की सामग्री, हिंदी-साहित्य में उल्लिखित या संकेतित पौराणिक कथाओं की स्रोतसंदर्भ-प्रमाणपुष्ट अनुक्रमणिका आदि से संवद्ध विषयों पर व्यवस्थित योजना के अनुसार तथ्यशोध कराया जाए जिसके आधार पर परवर्ती अनुसंधाता आलोचनात्मक शोधप्रवंध प्रस्तुत करें।'

अनुसंधान के मुख्य प्रकार

अनुसंधान-सामग्री के आधारभूत तथ्य दो प्रकार के होते हैं—ज्ञात और अज्ञात। ज्ञात तथ्यों के भी दो रूप हैं—आख्यात और अनाख्यात। आख्यात तथ्यों के पुनराख्यान में आलोचन-शक्ति की अपेक्षाकृत अधिक 'आवश्यकता' होती है, अनाख्यात तथ्यों के आख्यान में उससे कम, और अज्ञात तथ्यों के आख्यान में उससे भी कम से काम चल सकता है।

स्वरूप की दृष्टि से अनुसंधान के तीन प्रकार हैं—तथ्यशोधप्रधान, आलोचना-प्रधान और उभयात्मक। प्रतिपाद्य वस्तु का गुण-दोष-विवेचन, मूल्यांकन आदि न करके यथार्थ के स्वरूप का अन्वेषण, वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक खोज, 'तथ्यशोधप्रधान' अनुसंधान है। 'अलीगढ़ क्षेत्र की वोली के आधार पर कृषक-जीवन-संवंधी शव्दा-वली,' 'कवीर-ग्रंथावली का पाठ' आदि शोधप्रवंध इसी प्रकार के हैं। जिसमें अनु-संहित वस्तु से गृहीत प्रभावों के आकलन, उसके गुण-दोष-विवेचन, मूल्यांकन आदि को गौरव दिया जाए, वह 'आलोचनाप्रधान' अनुसंधान है। इसके उदाहरण हैं—'रामचरितमानस के विशिष्ट संदर्भ में तुलसी की शिल्पकला का अध्ययन,' 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' आदि। इन दो प्रकारों के व्यपदेश का आधार तथ्यशोध अथवा आलोचनातत्त्व का विशिष्ट प्राधान्य है, ऐकांतिकता या केवलता नहीं। कहा जा चुका है कि तथ्यशोधप्रधान अनुसंधान में भी किसी-न-किसी अंश में आलोचना का अस्तित्व रहता ही है। आलोचना के लिए भी तथ्या-धार अनिवार्य है। जिसमें उक्त दोनों रूपों का समन्वय होता है, दोनों को गौरव दिया जाता है, वह 'उभयात्मक' अनुसंधान है; जैसे—'तुलसीदास,' 'अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय' आदि। अपनी व्यापकता के कारण, अनुसंधान और आलो-चना दोनों के उद्देश्यों की पूर्ति करने के कारण, यह तीसरा रूप अधिक प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण है।

उभयात्मक अनुसंधान प्रथम दो रूपों के अतिरिक्त कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है।

अतः अनुसंधान के मूलतः दो ही रूप मानना असमीचीन नहीं है। कुछ लोग अनुसंधान के दो रूप मानते हैं—'तथ्यपरक' और 'तत्त्वपरक'। तत्त्वपरक' से उनका अभिप्राय 'आलोचनाप्रधान' से ही है। 'आलोचनाप्रधान' के लिए 'तत्त्वपरक' शब्द का व्यवहार उपपत्तिविरुद्ध है। 'तत्त्व' आलोचना नहीं है। 'तत्त्व' (तत्+त्व) का भी अर्थ है—वस्तु का स्वरूप, यथार्थ, तथ्य।[1] अनुसंधान के संदर्भ में उसका यही अर्थ ग्राह्य है। अतः 'तत्त्वपरक' तत्त्वतः 'तथ्यपरक' ही है; उससे भिन्न नहीं है। प्रत्येक अनुसंधान तत्त्वानुसंधान है। 'तथ्यप्रधान' अनुसंधान में भी तत्त्व (तथ्य, सत्य) का अनुसंधान किया जाता है और 'आलोचनाप्रधान' अनुसंधान में भी। इसलिए, तथ्य या आलोचना में से किसी एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता के आधार पर की गयी अभिधान-व्यवस्था ही तर्कसंगत है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'तत्त्वपरक' में प्रयुक्त 'तत्त्व' का तात्पर्य 'सूक्ष्मतत्त्व' या 'परतत्त्व' है; क्योंकि, उस ब्रह्मवादी तात्त्विक दृष्टि से तो भाषा-साहित्य-संबंधी समस्त अनुसंधान वाचारंभणमात्र है। तत्त्वदर्शी वेदांतियों ने तो मोक्षपरक शास्त्रों को भी 'अविद्यावद्विषयाणि' माना है।[2] ऐसी दशा में—देव, बिहारी, मतिराम आदि की कामरतिविषयक रचनाओं की 'तत्त्व'-महिमा का अनुमान पाठक स्वयं लगा लें।

अनुसंधान की विशेषताएँ

अब तक के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि जब हम 'हिंदी-अनुसंधान' कहते हैं तब हमारा निश्चित अभिप्राय होता है—हिंदी-भाषा अथवा हिंदी-साहित्य के किसी अंग या पक्ष (प्रवृत्ति, रूप, रचनाकार, रचनाविशेष आदि) का, उसके व्यापक संदर्भ (Perspective) में, वैज्ञानिक अध्ययन। विषय का अनवरत चिंतन, तत्संबंधी सामग्री का अन्वेषण तथा निरीक्षण-परीक्षण, तथ्यों की छानबीन और उपयोगी तथ्यों का संकलन, संकलित तथ्यों का वर्गीकरण-विश्लेषण, उनके आधार पर सत्यों (निष्कर्षों, सिद्धांतों) की तर्कसंगत प्रस्थापना, एवं शोधप्रबंध के रूप में इन समस्त प्रयत्नों का सुष्ठु शैली में निबंधन—यह सब 'अनुसंधान' है।

अनुसंधान के स्वरूप, श्रेष्ठत्व आदि की दृष्टि से उनकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. सत्यान्वेषण और ज्ञानविस्तार—सत्यार्थदर्शन ही ज्ञान है। अतः यहाँ पर

---

१. तत्त्वेन यथावत्।; तत्त्वतो यथावत्।; तत्त्वं याथात्म्यम्।
—क्रमशः—गीता, ४।९, ७।३ और १८।१ पर शांकरभाष्य
तत्त्वान्वेषात् वस्तुवृत्तान्तान्वेषणया—अभिज्ञानशाकुन्तल, १।२१ पर अर्थद्योतनिका
देखिए :—मनुस्मृति, ३।९६ और ९।४२ पर मन्वर्थदीपिका
तत्त्व = Fact—संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (आप्टे)

२. देखिए—ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य का उपोद्घात

एक ही विशेषता के अंतर्गत सत्य और ज्ञान दोनों का उल्लेख किया गया है। अनुसंधाता स्वभावतः सत्यान्वेषी है। उसका अविकल्प कर्तव्य है कि वह तथ्य की यथार्थता का गवेषण एवं उद्घाटन करे, सत्य की प्रस्थापना करे और इस प्रकार ज्ञान का विस्तार करे। इस धर्म का निर्वाह बड़ा कठिन है—विशेष करके संप्रदाय-विशेष या वर्तमान साहित्यकारों पर अनुसंधान करनेवाले विद्यार्थी के लिए। कभी-कभी अनभिज्ञता, राग, द्वेष, लोभ आदि के कारण असत्य और अज्ञानपूर्ण कथन कर दिये जाते हैं, जो शोधप्रबंध के गौरव के प्रतीप हैं। अनुसंधाता को जागरूक रहना चाहिए।

२. **अनवरत चिंतन**—किसी भी वाह्य रचना के पूर्व उसकी मानस-कल्पना आवश्यक हुआ करती है। **तैत्तिरीयोपनिषद्** (२।६।१) पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि सृष्टि के पूर्व उस ब्रह्म ने सृज्यमान जगत् की रचना के विषय में आलोचना की। इसका अभिप्राय यह है कि पहले मानस-बिंब का निर्माण हुआ और तत्पश्चात् उसे दृश्य विश्व के रूप में कार्यान्वित किया गया। ऐसी ही बात तुलसीदास ने भी '**रामचरितमानस**' की रचना के विषय में कही है—**रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा।** (रा० १।३५।६)। शोधप्रबंध के संबंध में भी यह तद्वत् सत्य है। अनुसंधाता भी शोधप्रबंध की रचना के पूर्व रचनीय वस्तु का मानस-बिंब निर्मित करता है, और फिर उसे प्रबंध के रूप में लिपिबद्ध करता है। इस मानसबिंब-निर्माण के लिए अनवरत चिंतन की आवश्यकता है। जब तक विषय के सतत भावन से अनुसंधाता का चित्त विषयाकारता नहीं धारण कर लेता तब तक उसका भलीभाँति व्यवस्थित एवं प्रांजल प्रतिपादन संभव नहीं है। दूसरों को कुछ समझाने के पहले अपने अंतःकरण पर से व्यामोह का आवरण हटा देना अनिवार्य है। इसके लिए अविच्छिन्न अध्ययन और मनन की अपेक्षा है।

अनवरत चिंतन के लिए तत्परता अनिवार्य है। 'गीता' (४।३९) में भगवान् श्रीकृष्ण की आप्तोक्ति है कि तत्पर श्रद्धावान् को ज्ञान की उपलब्धि होती है—**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।** 'रामचरितमानस' के ज्ञान-दीप-प्रकरण में गोस्वामी तुलसीदास ने भी '**भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई**' (७।११७।६) कहकर 'भाव' शब्द के द्वारा इसी तत्परता का द्योतन किया है। अनुसंधाता भी ज्ञान-साधक है। वह ज्ञान की उपलब्धि का प्रयत्न करता है; उस उपलब्धि को दूसरों की बुद्धि तक पहुँचाने के लिए शोधप्रबंध की रचना करता है। तत्परता में कमी आने पर विचारधारा विच्छिन्न हो जाती है। कभी-कभी तो कई दिनों या सप्ताहों तक मनन करते रहने के पश्चात् जब मानस-बिंब स्पष्ट होने लगता है, तभी कोई अप्रत्याशित क्षेपक आ पड़ता है। परिणाम यह होता है कि विचार-शृंखला टूट जाती है। कुछ समय बाद, जब कार्य के अनुकूल अवसर मिलता है तब; फिर

नये सिरे से बिंब-विधान करना पड़ता है। जो अनुसंधाता अपने जीविकोपार्जन के कामधंधों से थोड़ा-बहुत अवकाश निकालकर शोधकार्य में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें इस तरह की विघ्नबाधाओं का प्रायः सामना करना पड़ता है। उनको और भी सावधान रहना चाहिए।

३. विषय की एकतानता—अनुसंधान में निश्चित लक्ष्य बाँध कर आगे बढ़ना पड़ता है। उसके विषय की सीमा नियमतः निर्धारित रहती है। उस मर्यादा का उल्लंघन नितांत वर्जित है। तथ्यों के संग्रह, विवेचन-विश्लेषण, प्रेरक तत्त्वों और प्रभावों आदि का आकलन करते समय लक्ष्यपथ से दूर जाना अहितकर है। अनुसंधानकर्ता को इसका ध्यान रखना चाहिए। भूमिका का अनावश्यक विस्तार भी विषयांतर है। कभी-कभी भूमिका को ही इतना गौरव दे दिया जाता है कि मूल विषय गुणीभूत हो जाता है। इससे शोधप्रबंध के गौरव की हानि होती है। किसी प्रबंध की भूमिका उसके षष्ठांश या पंचमांश से अधिक नहीं होनी चाहिए।

४. व्यापक पटभूमिका—उपर्युक्त 'विषय की एकतानता' का यह अर्थ नहीं है कि अनुसंधाता अपनी दृष्टि को संकुचित बनाकर कूपमंडूक हो जाए। उसका तात्पर्य इतना ही है कि उसे इधर-उधर की गप्प नहीं हाँकनी चाहिए, असंबद्ध लाप से बचना चाहिए, अपने विवेचन को निर्धारित विषय की परिधि में मर्यादित रखना चाहिए। परंतु, किसी विषय के सम्यक् निरूपण के लिए अनुसंधाता की मति और संवेदना का क्षितिज व्यापक होना चाहिए। कूपमंडूकता उच्चकोटि के शोधप्रबंध के प्रणयन में बहुत बाधक हैं। यथास्थान तुलनात्मक समीक्षण, अध्येतव्य साहित्यकार के उत्तमर्णों के प्रभाव, उसकी जीवनी, इतिहास, संस्कृति, समाज आदि की पृष्ठभूमि में भी विषय का विवेचन अपेक्षित है।

५. प्रमाणोल्लेख—व्यवस्थितज्ञानवत्ता के कारण अनुसंधान मूलतः विज्ञान है। अतएव उसकी पद्धति वैज्ञानिक है। इस वैज्ञानिक पद्धति में तीन बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं—प्रमाणोल्लेख, विभाजन-वर्गीकरण और विवेचन-विश्लेषण। शोधप्रबंध की अनिवार्य विशेषताओं में प्रमाणोल्लेख का स्थान अन्यतम है। अनुसंधाता को यह भूलना नहीं चाहिए कि अनुसंधान केवल सर्च नहीं है, वह **'री-सर्च'** है। अतएव, प्रमापक तथ्यों का उल्लेख करते समय वह इस बात के लिए बाध्य है कि अपने कथन को, निष्कर्षों की स्थापना को, आप्त सिद्ध करने के लिए अपेक्षित प्रमाणों का निश्चित संदर्भ भी दे दे। यदि वह आप्तता या विश्वसनीयता की सिद्धि के लिए अपेक्षित प्रमाणों का संदर्भ नहीं देता तो उसका अनुसंधान अनाप्त (अनाप-शनाप) ही समझा जाएगा।

६. तर्कसंगत विभाजन और वर्गीकरण—किसी भी विषय के सम्यक् अध्ययन के लिए अध्येतव्य वस्तु का वैज्ञानिक विभाजन आवश्यक है। विभिन्न अध्यायों का उपविभाजन भी होना चाहिए। उनके अंतर्गत भी उपयुक्त शीर्षकों एवं उपशीर्षकों

की योजना की जानी चाहिए। अव्याप्ति और अतिव्याप्ति से यथासंभव बचना चाहिए। अध्यायविशेष या प्रकरणविशेष को अपने में पूर्ण बनाने के लिए पुनरावृत्ति करना अनुचित नहीं है। लेकिन, किसी विषय का विस्तृत विवेचन केवल एक स्थल पर ही होना चाहिए, बार-बार नहीं। अन्य स्थल या स्थलों पर संक्षिप्त उपस्थापन या सांकेतिक निर्देश करके अन्यत्र किये गये विस्तृत विवेचन का हवाला दे देना चाहिए।

विषय-विभाजन के अनुसार ही संकलित तथ्यों का वर्गीकरण करके शोध-प्रबंध की रचना में प्रवृत्त होना चाहिए। आगमनात्मक विधि से किये जाने वाले अनुसंधान की रूपरेखा बनाते समय कामचलाऊ विभाजन ही किया जा सकता है। संकलित तथ्यों के वर्गीकरण के बाद उसके अध्यायों और उसके उपविभागों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन विधेय है। प्रतिपाद्य विषय की सामग्री, प्रवृत्तियों, अंगों, रूपों, विशेषताओं आदि के तर्कसंगत विभाजन और वर्गीकरण की अवहेलना शोधप्रबंध का दूषण है। हिंदी में ऐसे प्रबंध भी लिखे गये हैं जिनमें आँख मूँदकर इधर-उधर से प्रामाणिक और अप्रामाणिक, ग्राह्य और त्याज्य, साहित्यिक और असाहित्यिक, अनुसंधेय और अननुसंधेय ढेर-सी सामग्री कहीं स्वकीय और कहीं सहायकों के पुरुषार्थ से जोड़-बटोर कर एक भारी-भरकम पोथा, एक भानुमती का पिटारा, तैयार कर दिया गया है। संकलित सामग्री के यथोचित संबंध-निर्वाह और उसके व्यवस्थित उपस्थापन का अभाव अनुसंधान-प्रबंध के लिए ग्लानिकारक है।

७. **विवेचन और विश्लेषण**—शोधप्रबंध की निष्पन्नता के लिए विवेचन और विश्लेषण की आवश्यकता है। प्रस्तुत प्रसंग में 'विश्लेषण' का अर्थ है—संश्लिष्ट तथ्यों या तथ्यगत तत्त्वों का पृथक्करण। 'विवेचन' का अर्थ है—उन तत्त्वों या तथ्यों का विवेकपूर्वक परीक्षण, उनकी तर्कसंगत मीमांसा। विश्वविद्यालयों की अनुसंधान-विषयक नियमावली में उल्लिखित **तथ्याख्यान** का तात्पर्य है—विवेचनविश्लेषणपूर्वक तथ्यों के परस्पर संबंध का निरूपण। सत्य की प्रस्थापना के लिए यह आख्यान जरूरी है।

शोधप्रबंध दादी की कहानी, व्यासजी की कथा, पर्यटक के वर्णन या विक्रेता के विज्ञापन से सर्वथा भिन्न वस्तु है। अतएव अनुसंधाता का कर्तव्य है कि वह जिस सामग्री के आधार पर निष्कर्षों की स्थापना करना चाहता है उसका सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक विधिवत् विवेचन तथा विश्लेपण करे। अन्यथा, उसकी मान्यताएँ कल्पना की श्रेणी से ऊपर नहीं उठ सकेंगी; उसका प्रबंध बातों का संग्रह मात्र रह जाएगा। अनुसंधान का विषय जितना ही सीमित होगा सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता उतनी ही अधिक होगी। तथ्यप्रधान अनुसंधान में भी विषय-विभाजन, ग्राह्य के ग्रहण, त्याज्य के त्याग, तथ्यों के वर्गीकरण आदि के लिए भी विवेचन-

शक्ति का उपयोग अनिवार्य है।

८. तत्त्वाभिनिवेशी दृष्टि—अनुसंधान चाहे जिस विषय पर किया जाए, उसका रूप चाहे जो भी हो, अनुसंधाता में उसे समझने-समझाने की भावकोचित आलोचन-शक्ति और दृष्टि-नैर्मल्य का होना आवश्यक है। यदि उसका अध्ययन प्रौढ़ नहीं है, यदि उसकी सूक्ष्मेक्षण-शक्ति का यथेष्ट विकास नहीं हुआ है, तो वह अनुसंधान का अधिकारी ही नहीं है। आजकल विज्ञापनबाजी ने पल्लवग्राही पांडित्य और पांडित्याभास को सरस्वती के मूर्धन्य पर प्रतिष्ठित कर रखा है। इसकी लपेट में हिंदी-अनुसंधान की भी क्षति हो रही है। मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि अनुसंधित्सु आदर्शवाद की मृग-मरीचिका में भटकते रहें। मेरा मन्तव्य इतना ही है कि वे अपने को अधिकाधिक योग्य बनाने की चेष्टा करें। उक्त प्रकार की योग्यता से संपन्न न होने पर भी जो विद्यार्थी अनुसंधान करना ही चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि अपने शोधप्रबंध के लिए कोई तथ्यप्रधान विषय चुनें और परिश्रम के बल पर सफलता प्राप्त करें। यदि दुर्भाग्य से उन्होंने कोई समीक्षापरक गूढ़ विषय चुन लिया तो उन्हें दुर्दम्य कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

९. सत्यनिष्ठ मौलिकता—अनुसंधान या शोधप्रबंध की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विशेषता है—मौलिकता। अनुसंधान के क्षेत्र में मौलिकता का अर्थ है—अनुसंधेय विषय की अज्ञात एवं अनाख्यात सामग्री का आख्यान, अथवा, आख्यात सामग्री का नूतन दृष्टि से पुनराख्यान। अनुसंधान का मुख्य प्रयोजन ज्ञान-विस्तार है। पिष्टपेषण या चर्वितचर्वण से ज्ञान-विस्तार नहीं हो सकता। अतः अनुसंधाता का धर्म है कि वह अपने मौलिक योगदान से संचित ज्ञानराशि को अभिवृद्ध करने का प्रयत्न करे। शोधप्रबंध में यह आवश्यक नहीं है कि अनुसंधाता के प्रत्येक वाक्य या उसकी प्रत्येक मान्यता पर मौलिकता की छाप हो।

कुछ लोग कल्पना को ही मौलिकता समझते हैं। निरालंब भावना के चामत्कारिक वाग्विलास से अपने प्रबंध को सर्वथा मौलिक बनाने का प्रयास हास्यास्पद है। शोधप्रबंध में भी कल्पना की उपयोगिता है; लेकिन, उसकी मर्यादा है। किसी अध्येतव्य साहित्यकार के बिखरे हुए विचारों की शृंखला मिलाते समय यथासंभव उसी की रचनाओं से सहायता लीजिए। यदि ऐसा न हो सके तो उसके आधार-ग्रंथों का सहारा लीजिए। यदि यह भी संभव न हो तो उसके युग की समानधर्मा प्रवृत्तियों एवं अपने प्रमाण-समर्थित, स्वतंत्र, किंतु तर्कसंगत, विवेचन के आधार पर यथास्थान व्यवस्था स्थापित कीजिए।

अनुसंधानकर्ता सत्यान्वेषी है। अतः उसकी मौलिकता सत्यनिष्ठ होनी चाहिए। ईमानदारी उसका साधारण धर्म है। मौलिकता के नाम पर कभी-कभी चौरकर्म का प्रचंड दुस्साहस भी देखने में आता है। यह कांड लज्जाजनक है। दूसरों की उपलब्धियों का उपयोग करते समय उनका उल्लेख कर देना अनुसंधाता

का आवश्यक कर्तव्य है। जो केवल पराजित ज्ञानसंपत्ति से ही अपने प्रबंध का भंडार भर कर अनायास ही डॉक्टरेट की महासिद्धि प्राप्त कर लेना चाहते हैं, उन्हें अनुसंधान के प्रति इतना घोर अन्याय नहीं करना चाहिए। उचित यह है कि अन्यत्र अनुसंहित विषयों पर शोधप्रबंध लिखते समय पूर्वप्रणीत शोधप्रबंधों को पढ़कर, उनसे आगे बढ़कर, कुछ नयी और उपादेय बात कही जाए। यदि किसी नगण्य तथाकथित कवि पर अनेक विश्वविद्यालयों में शोधप्रबंध लिखाये जाते हैं तो यह स्वयंसिद्ध है कि उन सभी में डॉक्टरेट उपाधि के योग्य मौलिकता का दर्शन नहीं हो सकता।

परंतु—समरथ कहुँ नहिं दोष गुसाईं।

१०. सुष्ठु प्रतिपादन-शैली—हिन्दी-साहित्य की डॉक्टरेट उपाधि के लिए प्रस्तोतव्य शोधप्रबंध एक साहित्यिक कृति है। इसलिए, विषय के अनुसार उसकी उपस्थापन-शैली भी साहित्यिक होनी चाहिए। प्रत्येक साहित्यिक रचना में, और विशेषकर उच्चतम उपाधि के लिए लिखित प्रबंध में, शब्दार्थ-संतुलन का सम्यक् निर्वाह अपेक्षित है। अभिव्यंजना के तीन विशिष्ट गुण हैं—शुद्धता, मिताक्षरता और स्पष्टता। अन्य गुण हैं—प्रसन्नता, स्वच्छता, प्रभावोत्पादकता, शिष्टता, धारावाहिकता, संबंध-निर्वाह, अर्थगौरव, औचित्य, संगति, निष्ठा आदि। साहित्यिक शोधप्रबंध में इन गुणों का साहित्य अभीष्ट है। सरलता की झोंक में निम्नस्तरीय सरलीकरण, और आलंकारिकता की उमंग में धवकामार शब्दाडंबर की प्रवृत्ति से शोधप्रबंध कलुषित होता है। अन्य साहित्कारों की भाँति शोधप्रबंध-लेखक को भी च्युतसंस्कृति, असमर्थता, निहतार्थता, अवाचकता, शैथिल्य, ग्राम्यत्व, विधेयाविमर्श, संकीर्णता, व्याहृति, विरुद्धता आदि दोषों से बचना चाहिए।

सारभूत निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अनुसंधाता को निम्नांकित आदर्श प्रतिज्ञा के समुचित पालन का सदैव ध्यान रखना चाहिए—

मम शोधप्रबंधेऽस्मिन् ज्ञानविस्तारकारके।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते॥

अर्थात्, मेरे इस ज्ञानविस्तारकारक शोधप्रबंध में ऐसा कुछ भी नहीं लिखा जा रहा है जो अप्रामाणिक हो, ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा रहा है जो अनपेक्षित हो।

यह मूलमंत्र दृष्टिपथ से कभी ओझल नहीं होना चाहिए।

०

द्वितीय प्रकरण

प्रयोजन और अधिकारी

प्रयोजन

सैद्धांतिक दृष्टि से अनुसंधान का प्रयोजन (लक्ष्य) है अथवा होना चाहिए—ज्ञान का प्रसार। लेकिन, आदर्शवादी सिद्धांत और विवशताओं से यंत्रित कठोर जागतिक जीवन के व्यवहार में बहुत बड़ा अंतर है। अर्थ मानव-जीवन की महत्तम वस्तु भले ही न हो, किंतु उसकी आवश्यकता में तनिक भी संदेह नहीं है। सनातन से ही भौतिक उत्कर्ष के लिए वित्त की महिमा गायी जाती रही है। आज तो हमारे जीवन का सारा ढाँचा ही अर्थ-व्यवस्था पर खड़ा है। सामाजिक गौरव की मुख्य कसौटी अर्थ ही है। व्यावहारिक जीवन के इस आधारभूत पदार्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतएव जीवन की विषम वास्तविकता का सामना करने वाले अनुसंधित्सुओं का सर्वाधिक व्यापक लक्ष्य है—अर्थ-लाभ। कुछ लोग अपनी अर्हा की अभिवृद्धि के लिए, कुछ यशोभिलाषा से प्रेरित होकर और कुछ महनीय ढंग से कालयापन के लिए शोधकार्य का अनुष्ठान करते हैं।

अनुसंधाता की प्रवृत्ति का साक्षात् प्रयोजन चाहे जो हो, शोधकार्य चाहे जिस भावना से अनुप्राणित हो, यदि वह सच्ची लगन के साथ और व्यवस्थित रीति से किया जाए तो उससे किसी न किसी सीमा तक ज्ञान का प्रसार होता ही है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना परिवेश होता है। वह परिस्थितियों के चक्र में आबद्ध रहता है। यदि कोई अनुसंधाता अनुसंधान को साध्य न मानकर उसे ज्ञानेतर-सिद्धियों का साधन बनाता है तो केवल इसी आधार पर उसे अपराधी घोषित करना उसके प्रति अन्याय है। परंतु, यदि वह स्वार्थांध होकर अनुसंधान के वास्तविक उद्देश्य (ज्ञान-विस्तार) की अवहेलना करता है, शोध-प्रबंध के नाम पर अज्ञान-कर्दम की वृद्धि करता है, तो वह अवश्य ही दोषभागी है।

अनुसंधाताओं के प्रवृत्ति-निमित्त का आगमनात्मक विधि से अवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि अनुसंधान के मुख्य प्रयोजन चार हैं—ज्ञान-प्रसार, वैज्ञानिक प्रशिक्षण, अर्थोपलब्धि और यशःप्राप्ति।

१. ज्ञान का प्रसार—अनुसंधान के विषय में लेखनी और वाणी का उपयोग

करने वाले विचारकों की सर्वसंमत घोषणा यही है कि अनुसंधान का मुख्य प्रयोजन ज्ञान का प्रसार है। अज्ञात सामग्री का ज्ञापन करके, अव्याख्यात सामग्री का व्याख्यान करके और व्याख्यात सामग्री की नवीन दृष्टि से विवेचना करके, दूसरे शब्दों में अपने मौलिक अध्ययन के द्वारा, अनुसंधाता पूर्ववर्ती अध्येताओं द्वारा संचित ज्ञान-राशि की श्रीवृद्धि करता है। हिंदी का अनुसंधाता केवल हिंदी-साहित्य-संबंधी ज्ञान की ही सीमा का विस्तार नहीं करता बल्कि अपने गंभीर शोधकार्य द्वारा वह इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन, भारतीय संस्कृति, तुलनात्मक भाषाशास्त्र आदि विषयों के अध्येताओं के लिए भी ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है।

२. वैज्ञानिक प्रशिक्षण—अनुसंधान की प्रविधि एवं प्रक्रिया वैज्ञानिक है। आलोचक बहक सकता है; विषयांतर कर सकता है; प्रभावप्रवणता, संवेदनशीलता और स्वच्छंद कल्पना की तरंगों में तैर सकता है। अनुसंधान का लौहपथ सुनिश्चित और व्यवस्थित साँचे में ढला हुआ है। वहाँ किसी भी प्रकार की मनमानी स्वच्छंदता या चित्तानुवर्ती संचरण के लिए अवकाश नहीं है। अनुसंधाता को संयमपूर्वक उस निर्धारित व्यवस्था का पालन करना पड़ता है। वह अपने प्रतिपाद्य विषय के यथार्थ स्वरूप की निर्भ्रांत धारणा बनाता है; उस पर किये गये अनुशीलन की उपलब्धियों तथा न्यूनताओं का विवेकसंगत आकलन करता है; उन न्यूनताओं की अपेक्षित पूर्ति के लिए समस्त उपयोगी सामग्री की विधिवत् छानबीन करके, उसका प्रमाणसंमत एवं तर्कसंगत विवेचन-विश्लेषण करके, उपनीत निष्कर्षों की स्थापना करता है। इस प्रकार अपने अनुसंधान-क्रम में शोधप्रबंध का प्रणयन करते समय प्रत्येक अनुसंधाता वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया का पालन करके व्यवस्थित ढंग से सोचने-समझने और कार्य करने का प्रशिक्षण प्राप्त करता है। इस पद्धति से उसके व्यवस्थापन-सामर्थ्य का वांछनीय विकास होता है। ज्ञान के अर्जन और अभिव्यंजन के लिए इस समर्थता की बड़ी आवश्यकता है।

३. अर्थोपलब्धि—हमारे यहाँ के वीतराग मनीषियों ने अर्थ को अनर्थकारी घोषित करके अर्थकरी विद्या और उदरंभर धर्म-ज्ञान की खूब कसकर विगर्हणा की है। परंतु, अनुसंधाता संन्यासी नहीं है। केवल ज्ञान-विस्तार के लिए शोधप्रबंध लिखना उसके जीवन की आवश्यकता नहीं है। जिस ज्ञानवादी को ज्ञान के प्रचार के लिए शोधप्रबंध लिखने का बहाना आवश्यक प्रतीत होता है, वह यथार्थ से कोसों दूर है। परीक्षा के बंधन में न बँधकर उच्चतर कोटि का प्रशस्यतर अनुसंधान कार्य किया जा सकता है, और देश-विदेश के सैकड़ों विद्वानों ने ऐसा किया भी है। वस्तुस्थिति यह है कि उपाधिपरक शोधकार्य करने वाले विद्यार्थी का प्रधान साध्य अर्थ ही है। वह दूसरों के आगे स्वीकार करे या न करे, लेकिन उसकी भौतिक दृष्टि में ज्ञानार्जन और ज्ञानसंप्रेषण का स्थान अपेक्षाकृत गौण होता है।

अनुसंधान या शोध-उपाधि के द्वारा अनेक प्रकार से अर्थ-लाभ होता है—

(क) कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो कोई काम-धंधा न मिलने के कारण, अपनी योग्यता (उपाधि) बढ़ाने के लिए, अनुसंधान आरंभ कर देते हैं। डॉक्टरेट से विभूषित व्यक्ति को अच्छी नौकरी मिलने में सुविधा होती है—खास तौर पर किसी कालेज या विश्वविद्यालय में। परंतु, अनुसंधाता को इस महाभ्रम में नहीं रहना चाहिए कि डॉक्टरेट नौकरी-प्राप्ति का रामबाण उपाय है। केवल सारस्वत योग्यता के आधार पर उत्तम पद तो यदा-कदा घुणाक्षरन्याय से ही मिला करता है। उसके लिए अन्य साधनों की भी अपेक्षा है। जीवन के इस आर्यसत्य को भूलना नहीं चाहिए। महत्त्वाकांक्षा बुरी वस्तु नहीं है। जो अपने ही पुरुषार्थ के बल पर आगे बढ़ना चाहता है उसे तो अवश्य ही अपनी योग्यता बढ़ाते रहना चाहिए।

(ख) कुछ जीविकोपार्जन करनेवाले व्यक्ति अपनी वर्तमान अवस्था में संतोष न पाकर अपने आर्थिक उत्कर्ष, वेतन-वृद्धि, पदोन्नति आदि की दृष्टि से इस कार्य में प्रवृत्त होते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि डॉक्टरेट मिल जाने के बाद ही प्राध्यापकविशेष का स्थायीकरण (कन्फ़र्मेशन) हुआ है। बी० ए० की कक्षा को पढ़ानेवाले प्राध्यापक के लिए डॉक्टरेट की शर्त का औचित्य संस्थाविशेष के संचालक शिक्षाशास्त्री ही सिद्ध कर सकते हैं।

(ग) डॉक्टरेट मिलने पर प्रकाशकों एवं ग्राहकों की दृष्टि में अनुसंधाता की अर्हा बढ़ जाती है। शोधप्रबंध के प्रकाशित होने पर रॉयल्टी, पुरस्कार आदि से भी आय होती है। एक ही शोधप्रबंध को दो-तीन पुस्तकों का रूप देकर यह आय और भी बढ़ायी जा सकती है। व्यवसायबुद्धि वाले कर्मकुशल अनुसंधाता एक ही ग्रंथ की सामग्री से अनेक ग्रंथों का अनायास ही निर्माण कर लेते हैं।

(घ) डॉक्टर हो जाने पर कुछ लोगों को शोधप्रबंधों के परीक्षण, पर्यवेक्षण आदि से भी कुछ-न-कुछ आय होने लगती है। इत्यादि।

४. यशःप्राप्ति—लोकैषणा मानव-मन की सहज प्रवृत्ति है, उसकी स्वाभाविक कमज़ोरी है। इसीलिए जॉन मिल्टन ने उसे उदात्त मन की पहली कमजोरी (last infirmity of the noble mind) कहा है। अन्य जिस किसी भी उद्देश्य से प्रेरित होकर अनुसंधान किया जाता है उसमें भी यश की कामना अव्यक्त रूप से मिली रहती है। कभी-कभी यश का लक्ष्य ही प्रधान होता है। आर्थिक दृष्टि से संपन्न व्यक्ति (जिसे किसी सारस्वत उपाधि की आवश्यकता नहीं है) नाम के लिए ही इस काम में प्रवृत्त होता है। कुछ लोग अपने संगी-साथियों, समवयस्कों, सव्यवसायियों आदि के डॉक्टर हो जाने पर अपनी हीन-भावना को दूर करने के लिए पी-एच० डी० या डी० लिट० करते हैं।

५. पूर्वोक्त प्रयोजनों के अतिरिक्त, अनुसंधान के कुछ गौण प्रयोजन भी हैं। कभी-कभी विद्या-संबंधी सत्कार्य में लगे रहकर कालक्षेप करने के लिए, कभी विश्वविद्यालय से संबंध बनाये रखने के लिए, कभी संस्थाविशेष की सेवा में रहकर

अर्जित छुट्टियों के मनोनुकूल उपयोग के लिए, कभी फोकट में मिली हुई वृत्तियों के उपभोग के लिए और कभी-कभी विदेश-वास के आकर्षण से अनुप्राणित होकर भी अनुसंधान किया जाता है।

अधिकारी अनुसंधाता

अनुसंधान का अधिकारी कौन है ?—इस प्रश्न पर विचार करने के पहले हिंदी-अनुसंधित्सु के समक्ष उपस्थित कठोर वास्तविकता का दिग्दर्शन अपेक्षित है। आज हिंदी के शोधार्थियों की संख्या 'सैंकड़ा' की गिनती में नहीं की जा सकती। उसे 'हजार' में ही आँकना पड़ेगा। भारतवर्ष के लगभग तीस विश्वविद्यालयों में हिंदी-विषयक शोधकार्य हो रहा है। देश और विदेश के विश्वविद्यालयों द्वारा लगभग सवा पाँच सौ शोधप्रबंध डॉक्टरेट उपाधियों के लिए स्वीकृत हो चुके हैं। लगभग चौदह सौ स्वीकृत विषयों पर द्रुत-विलंबित गति से शोधकार्य हो रहा है। हिंदी अथवा हिंदीतर विषय में एम० ए० करके हिंदी में अनुसंधान करने के इच्छुक छात्रों की संख्या बड़े वेग के साथ दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। विश्वविद्यालयों के चिंताकुल अधिकारी लोग पी-एच० डी० की कक्षा में प्रवेश पाने के लिए व्यग्र भीड़ को कम करने के लिए अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाने का सक्रिय उद्योग कर रहे हैं। डबल डॉक्टरेट करने के लिए उत्सुक डी० लिट० के शोधार्थियों का वर्धमान समुदाय भी शोधकसंचालकों की चिंता का कारण हो रहा है।

ऐसी परिस्थिति में शोधार्थी की पहली विकट समस्या है—अनुसंधान-मंदिर में प्रवेश कैसे किया जाए ? शोधसंचालकों के सामने कठिन प्रश्न है—किस-किस को प्रविष्ट होने दिया जाए ?

विभिन्न विश्वविद्यालयों की नियमावलियों में पी-एच० डी० के प्रवेशार्थी छात्रों की योग्यता भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्धारित की गयी है। (क) नियम अथवा रूढ़ि के अनुसार सभी विश्वविद्यालयों में केवल उन्हीं विद्यार्थियों को पी-एच० डी० करने की अनुमति दी जाती है जिन्होंने स्नातकोत्तर परीक्षा पास की है। अतः कोई भी विषय लेकर एम० ए० पास विद्यार्थी हिंदी में अनुसंधान कर सकता है। सामान्यतः आचरित प्रथा यह है कि हिंदी का एम० ए० ही हिंदी-अनुसंधान का अधिकारी समझा जाता है। किसी-किसी विश्वविद्यालय ने इस विषय में नियम भी बना दिया है। (ख) कुछ विश्वविद्यालयों ने यह भी नियम बना दिया है कि पचास प्रतिशत अंक पाकर या द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण विद्यार्थी ही पी-एच० डी० करने के अधिकारी हैं। (ग) कहीं पर यह प्रथा है कि शोधार्थी अध्यक्ष की अनुमति से विषय निश्चित कर के आवेदन-पत्र प्रस्तुत करता है। आवेदन-पत्र के साथ विषय की रूपरेखा आदि भेजने की आवश्यकता नहीं है। अध्यक्ष की संस्तुति पर

पर्यवेक्षक की नियुक्ति हो जाती है। अनुसंधाता को उसी पर्यवेक्षक की देख-रेख में कार्य करना पड़ता है। कहीं पर अनुसंधित्सु को अपना पर्यवेक्षक स्वयं चुनने का अधिकार है। पर्यवेक्षक और विभागाध्यक्ष अथवा संस्था के संचालक द्वारा अग्रसारित आवेदन-पत्र विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत किया जाता है। विषय के स्वीकृत हो जाने पर अनुसंधाता अपने मनोनीत पर्यवेक्षक की देखरेख में कार्य करता है।

यह तो नियम की बात हुई। आदर्श अनुसंधाता के वास्तविक अधिकार का निर्णय नियम की खानापूरी से नहीं होता। नियमों की पूर्णतः पूर्ति करने वाले अनेक अनुसंधाता अनुसंधान के निपट अनधिकारी होते हैं। नियमों की कसौटी पर खरे न उतरने वाले बहुत-से विद्यार्थी अनुसंधान की योग्यता से सर्वथा संपन्न हैं। एक आदर्श अनुसंधाता में निम्नांकित गुणों की सत्ता अपेक्षित है—

१. **अनुकूल मनोवृत्ति**—जीव की समस्त प्रवृत्तियाँ मन के द्वारा संचालित होती हैं। सभी की मनोवृत्ति सभी विषयों के अनुकूल नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वभाव होता है। गुणकर्मविभागशः सृष्टि का यही मनोवैज्ञानिक रहस्य है। यही कारण है कि अनेक छात्रों तथा अध्यापकों ने दस-पंद्रह वर्षों तक शोध-छात्रों की श्रेणी में विद्यमान रहकर अनुसंधान का आरंभ भी नहीं किया। इसलिए अनुसंधाता में अनुसंधान के अनुकूल मनोवृत्ति का होना आवश्यक है। इस मनोवृत्ति की सृष्टि नहीं की जा सकती, केवल विकास किया जा सकता है।

२. **बौद्धिक भूमिका**—एम० ए० पास कर लेना मात्र पर्याप्त नहीं है। हिंदी के अनुसंधाता में हिंदी-साहित्य और उसकी भूमिका का व्यापक ज्ञान होना आवश्यक है। हिंदी-भाषा पर उसका अधिकार होना चाहिए। प्रथम के अभाव में वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं है। द्वितीय के अभाव में शोधप्रबंध की सुष्ठु रचना नहीं हो सकती। दार्शनिक, काव्यशास्त्रीय, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि विषयों पर शोधकार्य करने के अभिलाषी विद्यार्थियों के लिए उन विषयों का ठोस ज्ञान भी अपेक्षित है। किसी-किसी विश्वविद्यालय में जर्मन, फ्रेंच या संस्कृत में विशेष-योग्यता की परीक्षा पास करने की शर्त बौद्धिक भूमिका के विस्तार के लिए ही है।

३. **प्रतिभा**—प्रत्येक महत्कार्य के संपादन के लिए प्रतिभा की आवश्यकता है। प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य में कुछ-न-कुछ प्रतिभा होती ही है। गुरुतर कार्य के लिए गुरुतर प्रतिभा अपेक्षित है। प्रतिभा दो प्रकार की होती है—कारयित्री और भावयित्री। अनुसंधान में भावयित्री प्रतिभा का विशेष महत्त्व है। प्रतिपाद्य विषय की अश्लिष्ट संकल्पना, उपयोगी तथ्यों का चयन, उनका विश्लेषण और विवेचन, बिंब-विधान, सत्यों का प्रमाणपुष्ट उपस्थापन और इन सबके फलस्वरूप श्रेष्ठ शोधप्रबंध का निर्माण प्रतिभा के बिना संभव नहीं है इस सहज (ईश्वर-प्रदत्त) शक्ति को अभ्यास द्वारा विकसित किया जा सकता है। दूसरी ओर, यह भी स्मरण

रखना चाहिए कि केवल प्रतिभा के बल पर शोधप्रबंध-रचना की कल्पना हास्यास्पद है।

४. तत्परता, अध्यवसाय और सहिष्णुता—अनुसंधान (सामग्री-संकलन और प्रबंध-लेखन) एक लंबी प्रक्रिया है। उसमें प्रतिभा की अपेक्षा परिश्रमशीलता की उपयोगिता कहीं अधिक है। प्रायः देखा जाता है कि कुछ ही दूर चल कर अनुसंधाता का आरंभिक उत्साह शिथिल पड़ जाता है, कभी-कभी बिल्कुल ही नष्ट हो जाता है। तथ्य-संग्रह करते समय नाना प्रकार की प्रत्याशित और अप्रत्याशित बाधाएँ सामने आती हैं। प्रबंध-रचना के क्रम में एक ही अध्याय को बार-बार लिखना पड़ता है। बहुत-सी अप्रिय बातें भी सुननी पड़ती हैं। व्यक्तिगत कठिनाइयां भी कम नहीं होतीं। ऐसी दशा में, अध्यवसायी, कष्टसहिष्णु और धैर्य तथा दृढ़ लगन के साथ काम करने वाला अनुसंधाता ही अपने कार्य का सफल निर्वाह कर सकता है।

पूर्वोक्त गुणों से संपन्न अनुसंधित्सु को भी प्रवेश पाने में कठिनाई होती है। अधिकारियों ने प्रतिबंध लगाने के अनेक कारण बतलाये हैं—

१. शोधार्थियों की बहुत बड़ी संख्या—व्यवस्थापकों का कहना है कि अनुसंधित्सुओं की अप्रतिबद्ध भीड़ का समुचित प्रबंध संभव नहीं है। अतएव पी-एच० डी० की कक्षा में प्रवेश करने का मुक्त अधिकार सबको नहीं मिलना चाहिए। उच्चतर और उच्चतम शिक्षा केवल चुने हुए लोगों के लिए है और वे ही प्रवेश पाने के अधिकारी हैं। इस विधि के पालन से शोधकार्य का व्यवस्थित रूप से सफलतापूर्वक संचालन किया जा सकेगा। इस विचार-पद्धति के आलोचकों का कहना है कि संख्या बढ़ रही है तो बढ़ने दीजिए। विश्वविद्यालय का द्वार बंद करने से न तो विद्यार्थी का ही हित होगा और न देश का ही। यदि संख्या पर प्रतिबंध लगाना ही है तो संख्या-वृद्धि के मूल निदान पर ध्यान दीजिए। जो जीवन-पथ पर अग्रसर हो चुका है, उसे लोकयात्रा करने दीजिए, उसके मार्ग को (और विशेषकर ज्ञानमार्ग को) अवरुद्ध मत कीजिए। एक संभाव्य कुंठा को रोकने के लिए कुंठाओं की संतति मत उपजाइए। यदि बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थी अनुसंधान करना चाहते हैं तो यह कोई गर्हणीय बात नहीं है—**यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।** हाँ, जो अनुसंधान के वस्तुतः अनधिकारी हैं, उन्हें अनधिकारी प्रमाणित करके प्रवेश-वर्जित कीजिए।

२. पर्यवेक्षकों की कमी—प्रतिबंध लगाने का दूसरा कारण यह बतलाया जाता है कि अनुसंधाताओं का पथप्रदर्शन करने योग्य पर्यवेक्षकों की कमी है। पर्यवेक्षक कहाँ से लाये जाएं?

इस पर से कई प्रश्नोत्तर ध्यान आकृष्ट करते हैं—

(क) क्या हिंदी में पर्यवेक्षकों का सचमुच अकाल है? क्या हिंदी के सब

पाँच सौ डाक्टरों तथा अ-डॉक्टर वरिष्ठ अध्यापकों में से अधिकतर लोग पी-एच० डी० के विद्यार्थी का पर्यवेक्षण करने में सर्वथा असमर्थ हैं ? यदि वे अयोग्य हैं तो क्या उन अयोग्य डाक्टरों को प्रशिक्षित करके पर्यवेक्षण के योग्य नहीं बनाया जा सकता ? और, उनकी अयोग्यता का उत्तरदायित्व किस पर है ? एक अप्रिय सत्य यह है कि अनेक विश्वविद्यालयों में सत्ताधिकारियों की कृपापात्रता को ही पर्यवेक्षण की योग्यता का निकष समझा जाता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि अनेक अयोग्य व्यक्तियों के पर्यवेक्षण में बहुत-से विद्यार्थियों को शोधकार्य करना पड़ता है और योग्य प्राध्यापकों की देख-रेख में एकाध विद्यार्थी ही कार्य करते हैं। इस प्रकार उपलब्ध साधनों का पूरा सदुपयोग नहीं हो पा रहा है। उनका सदुपयोग होना चाहिए। नये डाक्टरों या अन्य प्राध्यापकों को संयुक्त-पर्यवेक्षक बना कर भी समस्या का थोड़ा-बहुत समाधान किया जा सकता है।

(ख) यह अनुसंधान का दुर्भाग्य है कि पद या सत्ता को पर्यवेक्षण-सामर्थ्य का समशील माना जाता है। कितनी विचित्र बात है कि जो लोग विद्या-व्यतिरिक्त कार्यों में ही अधिकतर व्यस्त रहते हैं और जिन भ्रमणशील आचार्यों के पास अनुसंधाताओं की कठिनाइयाँ दूर करने का अवकाश नहीं है, उनके पर्यवेक्षण में दर्जनों शोधछात्र कार्य कर रहे हैं ! जो प्राध्यापक पठन-पाठन और अनुसंधान में ही लगे हुए हैं और जिनकी सारस्वत योग्यता भी कम नहीं है, क्या उनके पर्यवेक्षण में पाँच-सात अनुसंधाता भी कार्य नहीं कर सकते ?

(ग) अनेक विश्वविद्यालय अनध्यापक साहित्यकारों (कवि, उपन्यासकार आदि) को भी शोधप्रबंधों का परीक्षक नियुक्त करते हैं। जिसमें शोधप्रबंध का परीक्षण करने की योग्यता है, उसमें अनुसंधान का पर्यवेक्षण करने की योग्यता भी स्वयंसिद्ध है। उसके समानधर्मा साहित्यकारों की संख्या भी काफी बड़ी है। विश्वविद्यालय उन्हें भी पर्यवेक्षक बनाकर पर्यवेक्षकों की कमी की समस्या सुलझा सकते हैं।

(घ) जिन विश्वविद्यालयों में शोधार्थियों की संख्या अधिक है और अध्यापकों की कमी नहीं है, उनमें कुछ ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि पर्यवेक्षण के योग्य वरिष्ठ अध्यापकों को शोध-पर्यवेक्षण का ही अधिक कार्य सौंपा जाए और अध्यापन का अधिकांश कार्य कनीयान् अध्यापक करें। जहाँ अध्यापकों की कमी है और शोधार्थियों की संख्या बहुत अधिक है, वहाँ विदेशी विश्वविद्यालयों के रिसर्च-प्रोफ़ेसरों के ढंग पर (विशेष रूप से) शोधकार्य का पर्यवेक्षण करने के लिए अनुसंधान-विशेषज्ञ वरिष्ठ प्राध्यापकों की नियुक्ति का प्रयत्न किया जाए।

३. शोधप्रबंधों के स्तर में गिरावट—हिंदी और हिंदीतर विषयों के विद्वानों का यह आक्षेप अनुपेक्षणीय है कि हिंदी में शोधकार्य का स्तर गिरता जा रहा है। हिंदी-अनुसंधान के आलोचक यह मानते हैं कि हिंदी में अनेक उच्चकोटि के प्रबंध

लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। परंतु साथ ही वे यह भी जानते हैं कि हिंदी में अनुसंधान के नाम पर बहुत-सी पराजित एवं अप्रामाणिक सामग्री पर मौलिकता और प्रामाणिकता की जाली मुहर लगी हुई है। हिंदी-अनुसंधान पर किया गया आक्षेप हिंदी-विरोधियों एवं विश्वविद्यालय के बाहर के हिंदी-साहित्यकारों की ईर्ष्या का परिणाम है; कुंठाग्रस्त हिंदी-प्राध्यापकों की पराजित मनोवृत्ति का परिचायक है अथवा जेठी पीढ़ी के सठियाए हुए शोधसंचालकों की भ्रांति है—इस प्रकार की लचर उक्तियों द्वारा समीक्षकों के कटु सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता। कनीयसी पीढ़ी के जिन अनुसंधान-प्रेमियों और हिंदी-हितैषियों ने हिंदी के सौ-पचास शोधप्रबंध देखे हैं, उनकी मान्यता भी इसके विपरीत नहीं है। प्राइवेट गोष्ठियों में शोधप्रबंधों की श्लाघात्मक संस्तुति करने वाले अनेक माननीय परीक्षकों का आलोचनात्मक स्वर भी सुनायी पड़ता है। शोध के ज्ञान-प्रदेश में परीक्षकों का यह गजदंती कार-बार अज्ञान का ही प्रचार करता है।

जब हम प्रबंधों के घटियापन के कारणों की छानबीन करते हैं तब हमें उसका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि कुछ अनधिकारी व्यक्ति अनुसंधान के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। अनुसंधानोचित शक्ति, रुचि और लगन की कमी के कारण वे उत्कृष्ट कोटि के प्रबंधों की रचना नहीं कर पाते। कुछ लोग तो बीच में ही रह जाते हैं। इस अनधिकार-प्रवेश को रोकने के लिए शोधार्थियों की लंबी कतार में से उन्हीं को छाँटकर पी-एच० डी० की कक्षा में भर्ती करना चाहिए जो अनुसंधान के योग्य हैं। इस योग्यता का मानदंड क्या है ?

अनुसंधान के पूर्वोक्त गुणों का न्यायसंगत निर्णय कठिन है। अतः विद्यार्थी का पिछला रेकर्ड, विशेषतया उच्चतम परीक्षा (एम० ए०) का परीक्षाफल, उसकी अनुसंधान-योग्यता का मानदंड माना जाता है। इसी आधार पर कुछ विश्वविद्यालयों में यह नियम बना दिया गया है कि कम-से-कम द्वितीय श्रेणी में या पचास प्रतिशत अंक पाकर उत्तीर्ण विद्यार्थी ही पी-एच० डी० की कक्षा में प्रवेश पा सकते हैं। अन्य विश्वविद्यालयों में हिंदी के शोधसंचालक अपने विशेषाधिकार का उपयोग करते हैं। अर्थशास्त्र के पूर्ति-माँग-संबंधी सिद्धांत के अनुसार कभी-कभी प्रथम श्रेणी तक की शर्त भी लगा दी जाती है।

भुक्तभोगी अनुसंधित्सुओं की अभिव्यक्तियों के आधार पर, इस प्रकार के प्रतिबंध के संबंध में कुछ बातें विचारणीय हैं। मैट्रिक से बी० ए० तक प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण और संयोगवश (अस्वस्थता आदि के कारण) एम० ए० में तृतीय श्रेणी पानेवाला विद्यार्थी अनुसंधान करने का अनधिकारी क्यों है—विशेषकर उस छात्र की तुलना में जो जीवन भर तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण होता रहा और एम० ए० में संयोग से द्वितीय श्रेणी पा गया ? दूसरी बात यह है कि आधुनिक परीक्षा-प्रणाली परीक्षार्थी की योग्यता का सही मानदंड नहीं है। उसके आधार पर पी-एच० डी०

करने की योग्यता का निर्धारण न्यायविरुद्ध है। इन आपत्तियों का समाधान यह है कि ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता जिसका अपवाद न निकल आए, जिसके विरुद्ध आवाज़ न उठायी जा सके। नियम व्यक्ति-समूह को दृष्टि में रखकर बनाये जाते हैं, व्यक्तिविशेष को दृष्टि में रखकर नहीं। अतएव पी-एच० डी० के प्रवेश पर लगाये गये प्रतिबंध भी उसी दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

ऐसा भी देखा गया है कि टकराकर लौटा हुआ विक्षुब्ध, हतोत्साह और कुंठाग्रस्त द्वितीय श्रेणी का विद्यार्थी तमतमाकर कहता है—"प्रथम श्रेणी से ३६ का संबंध रखनेवालों को प्रथम श्रेणी की शर्त लगाने का क्या अधिकार है?" इसके अनेक उत्तर हैं। १. पुराना ज़माना आज से बहुत भिन्न था। अब युग बदल गया है। प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण विद्यार्थी भी धूल फाँक रहे हैं। २. उक्त प्रकार के विक्षिप्त प्रश्न से कोई लाभ नहीं, उल्टे हानि की ही संभावना अधिक है। ३. सभी प्रमाण व्यावहारिक होते हैं। और, व्यावहारिक दृष्टि से, पद-प्राप्ति भी योग्यता का प्रमाण है। पदाधिकारी की योग्यता में संदेह नहीं किया जा सकता। ४. शोधार्थी को अधिकारियों की कठिनाई पर भी सहानुभूति और विवेक के साथ विचार करना चाहिए। हाँ, यदि कोई प्रथम श्रेणी की शर्त लगानेवाला व्यवस्थापक किसी तृतीय श्रेणी के विद्यार्थी को गुप्त द्वार से प्रविष्ट करता या कराता है (जैसा कि एकाध ने किया है) तो शोधार्थी की शिकायत बिल्कुल जायज़ है।

जिन विश्वविद्यालयों की शोध-नियमावली में पूर्ववर्ती परीक्षा में प्राप्त अंकों की कोई शर्त नहीं है, वहाँ भी मनमानी तौर पर अविहित प्रतिबंध लगा दिया जाता है। इस अविहित प्रतिबंध का परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी भी प्रवेश पाने के लिए अविहित उपायों का ही सहारा लेता है, और कई एक को इसमें पूरी सफलता भी मिल जाती है। ऐसे भी उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं कि शक्तिमान् अधिकारियों ने, विरोध के भय से या अनुसंधित्सु को भ्रमाने के उद्देश्य से, अंकों की शर्त का पालन करते हुए अपने विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० का प्रवेश-द्वार बंद कर दिया है और विशिष्टजनों को दूसरे विश्वविद्यालय में खिड़की से प्रविष्ट करा दिया है। उनका यह आचरण नैतिक दृष्टि से अभिनंदनीय नहीं है। यदि वे एम० ए० की परीक्षा में प्राप्त अंकों को ही कसौटी मानते हैं तो उन्हें सर्वत्र ही उस सिद्धांत का पालन करना चाहिए।

प्रथम और द्वितीय श्रेणी के प्रत्येक छात्र में अनुसंधानोचित प्रतिभा, प्रवृत्ति, तत्परता और श्रमशीलता का होना स्वभावत: संभव नहीं है। दूसरी ओर, तृतीय श्रेणी के कुछ समर्थ और अध्यवसायी विद्यार्थी अच्छा शोधप्रबंध लिख सकते हैं। अतीत और वर्तमान काल के अनेक शोधकर्ता इस सत्य की यथार्थता प्रमाणित कर चुके हैं और कर रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि शोधप्रबंध के निर्माण में प्रतिभा भी सहायक होती है परंतु उससे अधिक आवश्यकता परिश्रम, लगन और सहनशीलता

की है। काव्यहेतु के प्रसंग में दंडी ने कहा है कि यत्नपूर्वक मनन करने पर सरस्वती अवश्य कृपा करती है और परिश्रमी व्यक्ति विद्वानों की गोष्ठी में समादृत होता है। पंडितराज जगन्नाथ ने अध्ययन और अभ्यास को प्रतिभा का हेतु बतलाकर प्रकारांतर से इस मान्यता का समर्थन किया है। बूफ़ाँ का कथन है कि सहनशीलता की योग्यता का नाम ही 'प्रतिभा' है। फ़्रेडरिक कार्लाइल ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है—'प्रतिभा' का पहला अर्थ है कष्ट सहने की क्षमता। अस्तु। यह तथ्य व्यवहारसिद्ध है कि शोधप्रबंध-प्रणयन के लिए आवश्यक श्रमशीलता आदि गुण प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी की अपेक्षा द्वितीय श्रेणी के विद्यार्थी में न्यून नहीं होते। और, तृतीय श्रेणी के कुछ विद्यार्थियों में भी पाये जाते हैं। तो फिर उन्हें पी-एच० डी० करने के अधिकार एवं अवसर से क्यों वंचित किया जाए? एक बात और है। जिस स्वतंत्र जनतंत्री देश में उस प्रौढ़ ज्ञानहीन को भी मतदान का अधिकार है जो एक उम्मीदवार का नाम तक याद नहीं रख सकता और 'गान्ही महतमा', 'बैल', 'दीपक', या 'झोपड़ी' को वोट देता है; जिस देश का संविधान प्रत्येक व्यक्ति को आत्मोन्नति का समान अधिकार प्रदान करता है; उस देश के एम० ए० पास प्रौढ़ नागरिक को सत्कार्य में प्रवृत्त होकर पी-एच० डी० करने का अधिकार क्यों नहीं है?

उपर्युक्त समीक्षण में तथ्य है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। परंतु भावावेश में आकर सब कुछ कह जाने से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। उसके दूसरे पहलू पर भी विचार करना होगा। यह भी प्रायः देखा जाता है कि बहुत-से विद्यार्थी आरंभ में प्रवेश पाने के लिए बहुत जोर लगाते हैं और कुछ दिन बाद ही छोड़कर चले जाते हैं। कुछ ऐसे भी अनुसंधाता हैं जो विषय को स्वीकृत कराकर आठ-आठ दस-दस वर्ष तक बैठे रहते हैं, कुछ भी काम नहीं करते। अनेक शोधार्थियों की साहित्यिक भूमिका बड़ी कमजोर होती है, भाषा पर उनका बिल्कुल अधिकार नहीं होता, और वे अनुसंधान के मूल तत्त्वों से नितांत अनभिज्ञ होते हैं। यह बात सर्वमान्य है कि अनुसंधित्सुओं की संख्या बुरी तरह बढ़ रही है। यह भी मानना पड़ेगा कि सभी अनुसंधित्सु अनुसंधान के अधिकारी नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में अनुसंधान के सुव्यवस्थित संचालन के लिए समीचीन नियमन की आवश्यकता है। इस प्रकार का प्रतिबंध अनिवार्य है जिससे अनुसंधान के अधिकारी छात्र ही पी-एच० डी० की कक्षा में प्रवेश पा सकें।

शोधार्थियों के प्रवरण (सेलेक्शन) के लिए निम्नांकित उपाय संस्तुत्य हैं—

१. वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के दोषों के बावजूद उसके द्वारा किये गये निर्णय को मान्यता देना ही वैध है। अतः पी-एच० डी० की कक्षा में शोधार्थियों को भर्ती करने की पहली कसौटी एम० ए० का परीक्षा-फल है। तृतीय श्रेणी के विद्यार्थी को पी-एच० डी० करने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए—शोधसंचा-

लकों की इस मान्यता के विरुद्ध कोई सबल तर्क नहीं दिया जा सकता। यह सहज-सिद्ध है कि विद्यार्थी एम० ए० की कक्षा में पहुँच कर वही विषय लेता है जिसमें उसकी विशेष रुचि रहती है, जिसमें उसकी अधिकतम गति होती है। यदि वह अपने मनोनीत विषय में द्वितीय श्रेणी भी नहीं प्राप्त कर सकता तो यह निश्चित है कि उसके साहित्यिक-ज्ञान और लेखन-शक्ति की सीमाएँ अत्यंत संकुचित हैं, उसमें अध्ययन-अनुशीलन की अपेक्षित मनोवृत्ति और अध्यवसाय की कमी है। ऐसे विद्यार्थी को अनुसंधान करने का अधिकार नहीं है। हाँ, निकृष्ट श्रेणी में उत्तीर्ण विद्यार्थी को दुबारा परीक्षा देकर अपनी उत्कृष्ट योग्यता प्रमाणित करने का उसी प्रकार अवसर मिलना चाहिए जिस प्रकार अनुत्तीर्ण विद्यार्थी को मिलता है। विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के अधिकारी इस ओर ध्यान दे रहे हैं। एक दूसरी बात भी होने जा रही है। एकाध विश्वविद्यालयों के अधिकारी (स्नातकोत्तर परीक्षाओं में) तृतीय श्रेणी का उन्मूलन करने जा रहे हैं। ऐसा हो जाने पर (कम से कम उन विश्वविद्यालयों में) यह नौबत ही नहीं आएगी कि तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण छात्र कुंठा का अनुभव करें।

द्वितीय श्रेणी के विद्यार्थी के लिए अनुसंधान का प्रवेश-द्वार बंद करना उचित नहीं है। यह सही है कि द्वितीय-श्रेणी के अधिकतर विद्यार्थी वस्तुतः द्वितीय श्रेणी के ही होते हैं। लेकिन यह भी उतना यथार्थ है कि अनेक तृतीय श्रेणी पाने वाले विद्यार्थियों का साहित्य-ज्ञान अनेक द्वितीय श्रेणी के विद्यार्थियों से अधिक होता है, और अनेक प्रथम श्रेणी पाने वाले विद्यार्थी वस्तुतः द्वितीय श्रेणी के ही होते हैं। इसलिए, एक ओर अनुसंधान की आवश्यकता एवं स्तर को ओर दूसरी ओर अधिकतम अनुसंधित्सुओं के अधिकतम कल्याण को दृष्टि में रखते हुए प्रथम या द्वितीय श्रेणी के विद्यार्थियों को अनुसंधान करने का पारपत्र दे देना चाहिए। यदि वे पंजीकरण के पूर्व दिये जाने वाले अनुसंधानशास्त्रीय प्रशिक्षण और किये जाने वाले अनौपचारिक शोधकार्य के क्रम में अपनी अनुसंधान-योग्यता प्रमाणित न कर पाएँ तो निष्पक्ष और न्याय्य सरणि से उनकी छँटाई कर देना अनुचित नहीं है।

२. प्रारम्भिक प्रशिक्षण—शोधार्थियों के प्रवरण का दूसरा सोपान या उपाय अनुसंधानशास्त्रीय प्रशिक्षण है। एकाध विश्वविद्यालयों में इस प्रशिक्षण के लिए प्री-पी-एच० डी० कक्षा की व्यवस्था की गयी है। इस क्रम में अनुसंधित्सुओं को अनुसंधानशास्त्र और उनके शोधविषय से संबद्ध साहित्य पर विशिष्ट व्याख्यान दिये जाते हैं। उनकी परीक्षा ली जाती है। यदि इस प्रकार का कार्यक्रम सभी विश्वविद्यालयों में चलाया जाए, उसका समुचित निर्वाह किया जाए, योग्य अध्यापकों द्वारा प्रशिक्षण कराया जाए, तो निश्चय ही अनुसंधान की ईदृक्ता में विशेषता आएगी, अधिकारी अनुसंधित्सु को अपनी योग्यता सिद्ध करने का सुयोग

मिलेगा, और बहुत-से अनधिकारी अनुसंधित्सु स्वयं ही इस मार्ग से निवृत्त हो जाएँगे। रही-सही न्यूनता की पूर्ति तीसरे उपाय से हो जाएगी।

३. अनौपचारिक शोधकार्य—अनुसंधित्सु के अधिकार-निर्णय का तीसरा उपाय यह है कि पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन) के पूर्व उसके शोधनिर्देशक और पर्यवेक्षक का निश्चय कर दिया जाए। अनुसंधाता अपने प्रस्तोतव्य शोधप्रबंध के एक-दो अध्याय अथवा लगभग सौ पृष्ठ लिखकर अपनी शोध-निष्ठा और योग्यता प्रमाणित करे। पर्यवेक्षक की संस्तुति पर उसका नाम पंजीकृत हो जाना चाहिए। इस संबंध में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

पहली बात यह है कि पंजीकरण के अधिकारियों को पर्यवेक्षक की संमति और प्रतिष्ठा का सम्यक् ध्यान रखना चाहिए। पंजीकरण के विषय में पर्यवेक्षक की संस्तुति हो जाने के बाद अनुसंधाता द्वारा लिखित अध्याय को किसी दूसरे अध्यापक से जँचवाना उचित नहीं है, किसी अवर अध्यापक से जँचवाना तो और भी अनुचित है। अनुसंधान के क्षेत्र में इस अनिष्ट प्रवृत्ति का विसर्जन ही श्रेयस्कर है। पर्यवेक्षक के निरीक्षण के पश्चात् और विश्वविद्यालयों द्वारा परीक्षकों की नियुक्ति के पूर्व अध्यक्ष-प्रतिनिधि और फिर स्वयं अध्यक्ष द्वारा तथाकथित परीक्षण (एक लब्धप्रतिष्ठ शिक्षाशास्त्री के शब्दों में 'अनोखे ढंग से परीक्षण') अनुसंधान के लिए कथमपि हितकर नहीं है। इस प्रकार की ग्रंथियों से उसकी मर्मभेदी क्षति होती है। जिसे योग्य समझकर पर्यवेक्षक नियुक्त किया गया है, उसकी संस्तुति का आदर करना चाहिए। जो अयोग्य है, उसकी पर्यवेक्षक-रूप में नियुक्ति ही नहीं होनी चाहिए। दूसरों की कार्य-व्यवस्था में उपप्लव करने से अनुसंधान का कल्याण नहीं होगा। उसका कल्याण इस बात में है कि विवेकशील शोधसंचालकों के सन्मार्ग पर चलते हुए अपने उत्तरदायित्व को निष्ठा के साथ निभाया जाए, अपने पर्यवेक्षण में काम करने वाले अनुसंधाताओं को अपेक्षित समय दिया जाए, उनके शोधकार्य का भली भाँति निरीक्षण किया जाए, और अपने बहुमूल्य सुझावों द्वारा उनके प्रणीयमान प्रबंधों की कमियों को दूर करके उन्हें अनुसंधान का उत्कृष्ट रूप प्रदान किया जाए। अपने घर को अंधकार में छोड़कर मस्जिद में दीपक जलाने की निष्फल चेष्टा व्यावहारिकता का अतिक्रमण है।

दूसरी बात यह है कि पंजीकरण के पूर्व लिखित अध्यायों को अनुसंधित्सु के शोधाधिकार मात्र का प्रमापक माना जाए। यह असंभव शर्त न लगायी जाए कि वे अध्याय सर्वथा निष्पन्न हों, अर्थात् उनकी इयत्ता और ईदृक्ता ऐसी हो कि वे ज्यों के त्यों प्रस्तोतव्य शोधप्रबंध में संमिलित कर लिये जाएँ। मैं इस शर्त को 'असंभव' इसलिए कह रहा हूँ कि पंजीकरण के पूर्व लिखा गया अध्याय सर्वथा निष्पन्न हो ही नहीं सकता। शोधप्रबंध का कोई भी अध्याय अपने में स्वतंत्र या मुक्त नहीं होता। संपूर्ण शोधप्रबंध एक सुनिश्चित विचार-शृंखला में प्रबद्ध होता

है, उसका प्रवाह अविच्छिन्न होता है। इसीमें उसके 'प्रबंध' नाम की सार्थकता है। पंजीकरण के पूर्व लिखित अध्याय भी उसी शृंखला की एक कड़ी है। अतएव अन्य अध्यायों की समाप्ति के बाद पहले लिखे गये अध्यायों में भी अपेक्षानुसार परिवर्तन, परिवर्धन या काट-छाँट की आवश्यकता पड़ती है।

प्रारंभिक प्रशिक्षण एवं अनौपचारिक शोधकार्य के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि इस प्रक्रिया में अनुसंधाता का बहुत-सा समय व्यर्थ चला जाता है। अनिश्चय की स्थिति में वह मन लगाकर कार्य नहीं कर पाता। इसका समाधान यह है कि अनुसंधान जल्दबाज़ी का काम नहीं है। धीरता और दृढ़ता अनुसंधाता के आवश्यक धर्म हैं। अच्छे स्तर का शोधप्रबंध लिखने और उसकी उपयुक्त तैयारी करने में तीन-चार वर्ष का समय लग ही जाता है। हाँ, कभी-कभी अव्यवस्था और धाँधलेबाज़ी के कारण अनुसंधाताओं को बाध्य होकर कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलना पड़ता है। विश्वविद्यालयों के अधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वे ऐसी व्यवस्था करें जिससे न तो शोधार्थियों का समय नष्ट हो और न ही उनको अनिश्चय की परेशानी में तपना पड़े। शोधसंचालकों को चाहिए कि वे अधिकारी अनुसंधित्सुओं को शोधकार्य करने की अपेक्षित सुविधाएँ तथा प्रोत्साहन दें, और प्रविष्ट अनधिकारियों को अनुसंधान के योग्य बनाएँ।]

तृतीय प्रकरण

विषय-निर्वाचन

अनुसंधान-कार्य का पहला सोपान विषय-निर्वाचन है—सिद्धांत-रूप में यह बात बिल्कुल सही होते हुए भी सबके लिए व्यवहार्य नहीं है। अनुभव और अवेक्षण के आधार पर, यथार्थवादी दृष्टि से विषय-निर्वाचन के विषय में मैं शोधार्थियों से निम्नांकित निवेदन करना अपेक्षित समझता हूँ—

यदि आप डॉक्टरेट उपाधि के लिए अनुसंधान करने के अभिलाषी हैं तो सबसे पहले यह निश्चय कर लीजिए कि किस विश्वविद्यालय में शोध-कार्य करना है। विषय-निर्वाचन से इसका घनिष्ठ संबंध है। इस सत्य की तथ्यता को समझ लेना कठिन नहीं है।

(क) मान लीजिए की आप अपनी विशेष रुचि एवं अध्ययन के अनुसार 'निराला' के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आगरा से, अथवा 'निराला' की जीवनी और काव्य पर सागर से, अथवा 'निराला' के काव्य पर अलीगढ़ या दिल्ली से, कार्य करना चाहते हैं तो आपको अनुमति नहीं मिलेगी; क्योंकि, ये विषय इन विश्व-विद्यालयों में पहले से ही स्वीकृत हैं और अनुसंधाता इन पर कार्य कर रहे हैं। आप वही विषय ले सकते हैं जो आपके विश्वविद्यालय में पहले से स्वीकृत नहीं है। यदि कोई विषय किसी अन्य विश्वविद्यालय में स्वीकृत है तो भी आप किसी दूसरे विश्वविद्यालय में उस पर कार्य कर सकते हैं। इसमें कोई अलंघ्य बाधा नहीं है। लोग इस प्रकार कार्य कर भी रहे हैं। हाँ, किसी-किसी विश्वविद्यालय के आवेदन-पत्र में यह कहना पड़ता है कि इस विषय पर न तो किसी अन्य विश्वविद्यालय में शोध-कार्य हुआ है और न हो रहा है। लेकिन यह व्यवस्था केवल सैद्धांतिक है। इस वैधानिक बाधा को पार करने के लिए आप विषय के शीर्षक में यत्किंचित् परि-वर्तन करके अबाध गति से आगे बढ़ सकते हैं।

(ख) एक दूसरी दृष्टि से भी यह बात विचारणीय है। विषयों की उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता के विषय में विभिन्न विश्वविद्यालयों का मानदंड एक नहीं है। आपके विषय की स्वीकृति या अस्वीकृति शोधसंचालकों की मान्यता और रुचि पर निर्भर है। आपको तदनुसार ही चलना पड़ेगा। अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं

जिनके विषय में शोधसंचालकों की राय एक नहीं है। एक उदाहरण लीजिए। एक विश्वविद्यालय के हिंदी-शोधसंचालक ने बलपूर्वक घोषित किया कि 'रामचरितमानस में अलंकार-योजना' पी-एच० डी० के शोधप्रबंध के लिए पर्याप्त नहीं है। दूसरे विश्वविद्यालय में यही विषय प्रसन्नतापूर्वक मान लिया गया। तीसरे विश्वविद्यालय में 'रामचरितमानस के उपमान' पर ही डी० फ़िल० के लिए कार्य हो रहा है। अंतिम दो विश्वविद्यालयों का निर्णय सर्वथा युक्तियुक्त है। जिसने (हिंदी-साहित्य के महत्तम महाकाव्य) 'रामचरितमानस' का आद्योपांत अध्ययन नहीं किया, ('मानस' के उत्तमर्ण ग्रंथों के अध्ययन की बात तो दूर रही), वह 'रामचरितमानस' में प्रयुक्त उपमानों की इयत्ता और ईदृक्ता को नहीं समझ सकता। ऐसे भी लोग हैं जो भक्तिकाल के अधिकांश साहित्य को निकृष्ट मानते हुए भी ध्रुवदास को (काव्य, संस्कृति, दर्शन, भक्ति आदि दृष्टियों से) अनेक शोधप्रबंधों के योग्य बतलाते हैं, जो बरकत उल्लाह पेमी के 'पेमप्रकाश' की तुलना में तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' को तुच्छ समझते हैं, जिनकी मान्यता के अनुसार बाबू सियारामशरण गुप्त पर पी-एच० डी० के अनेक शोधप्रबंध लिखे जा सकते हैं लेकिन 'दिनकर' जी पर नहीं, और 'बच्चन' जी की कविता पर एम० ए० के निबंध वाले प्रश्नपत्र के विकल्परूप में भी प्रबंध नहीं लिखा जा सकता। जब एक ही शोधसंचालक अपने विश्वविद्यालय में किसी विषय को शोधकार्य के अनुपयुक्त बताता है और किसी दूसरे विश्वविद्यालय में उसकी उपयुक्तता का समर्थन करता है अथवा इसके विपरीत-क्रम से एक ही विषय को किसी अन्य विश्वविद्यालय में अनुपयुक्त करार देता है किंतु अपने विश्वविद्यालय में उसे उपयुक्त समझता है, तब वैमत्य की यह ग्रंथि सर्वथा अभेद्य हो जाती है। आपको कैफियत तलब करने का कोई अधिकार नहीं है। यदि डॉक्टरेट चाहिए तो श्रद्धाविश्वासपूर्वक आगे बढ़िए।

(ग) किसी-किसी विश्वविद्यालय में जीवित साहित्यकारों पर अनुसंधान कराने का नियम नहीं है। विशिष्ट परिस्थिति में नियम-परिवर्तन भी हो जाता है। एक दृष्टांत द्वारा अपने कथन को स्पष्ट कर दूं। एक विश्वविद्यालय में एक अनुसंधात्री ने एक जीवित साहित्यकार पर शोधकार्य करने की अनुमति माँगी। उसकी प्रार्थना यह कहकर अस्वीकृत कर दी गयी कि विश्वविद्यालय के नियमानुसार किसी जीवित साहित्यकार पर शोधप्रबंध नहीं लिखा जा सकता। कुछ समय बाद एक दूसरी अनुसंधात्री ने एक अन्य जीवित साहित्यकार पर शोधकार्य करने के लिए आवेदन-पत्र भेजा। उसके पक्ष में निर्णय की संभावना देखकर अनुसंधान-समिति के एक सदस्य ने पहली अनुसंधात्री के अस्वीकृत विषय का भी प्रश्न उठा दिया। परिणाम यह हुआ कि दोनों ही विषय स्वीकृत हो गये। इस प्रकार की क्रांति के लिए असाधारण शक्ति चाहिए। आप अपनी शक्ति का सही अनुमान

लगाकर ही पहले विश्वविद्यालय का चुनाव कीजिए और फिर विश्वविद्यालय के अनुसार विषय-निर्वाचन कीजिए। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वविद्यालयों के पास विषयों के औचित्यानौचित्य-निर्धारण का कोई सर्वमान्य सारस्वत मानदंड नहीं है। कोई विश्वविद्यालय जीवित साहित्यकारों पर अनुसंधान कराने के पक्ष में है, कोई विपक्ष में। विपक्षी भी अकस्मात् पक्षधर हो जाते हैं। आप स्वयं विचार करके देखिए। 'निराला' के जीवन-काल में उन पर एक भी शोधप्रबंध नहीं प्रस्तुत किया गया। अंतिम दिनों में उन्होंने कौन-सा चमत्कार कर दिया जिसके फलस्वरूप उन पर एक दर्जन से अधिक शोधप्रबंध लिखे जाने लगे?

(घ) प्रत्येक विश्वविद्यालय में सभी विषयों के विशेषज्ञ पर्यवेक्षक नहीं हैं, सभी विषयों के अध्ययन के लिए अपेक्षित सामग्री उपलब्ध नहीं है। यदि किसी को पाठानुसंधान पर कार्य करना है तो उसके लिए वाराणसी, प्रयाग या राजस्थान उपयुक्त विश्वविद्यालय हैं। यदि किसी को दिल्ली, वेंकटेश्वर या केरल से ही पी-एच० डी० करनी है तो उसे पाठानुसंधान के अतिरिक्त कोई अन्य विषय लेना पड़ेगा। प्रशंसनीय मार्ग तो यही है कि पहले विषय का चुनाव करके ही तदनुसार विश्वविद्यालय का चुनाव किया जाए; परंतु सामान्य विद्यार्थी के लिए इस आदर्शपथ का अवलंबन संभव नहीं है। आर्थिक आदि समस्याओं के कारण हैदराबाद-निवासी अनुसंधित्सु के लिए वाराणसी में रहकर अथवा पटना-निवासी शोधार्थी के लिए चंडीगढ़ में रहकर शोधकार्य करना अतिदुस्साध्य है। अतएव, यदि आप किसी ऐसे विश्वविद्यालय में रहकर अनुसंधान करना चाहते हैं जहाँ आपको पर्यवेक्षक चुनने की स्वतंत्रता है तो उपलभ्य सामग्री, पर्यवेक्षक की विशेषज्ञता और अपनी रुचि तथा शक्ति का ध्यान रखते हुए विषय का चुनाव कीजिए।

आजकल विश्वविद्यालयों में विषय-निर्वाचन की तीन सरणियाँ प्रचलित हैं—

१. शोधसंचालक द्वारा स्वेच्छानुसार अनुसंधाता पर कोई भी विषय थोप दिया जाता है। यह क्रम सर्वथा निकृष्ट है। अनुसंधाता की प्रकृति, प्रवृत्ति और शक्ति के विरुद्ध उसे किसी अरुचिकर विषय पर कार्य करने के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बाध्य करना उसकी प्रतिभा, समय और साधनों का अपव्यय है। जिस विद्यार्थी की रुचि भक्तिदर्शन में है उससे शृंगार रस पर प्रबंध लिखवाना उचित नहीं है। जो छात्रा मठों-मंदिरों में गुप्त रूप से सुरक्षित सांप्रदायिक सामग्री का संकलन करने एवं संप्रदाय के गुह्य रहस्यों को बाबाजनों के सत्संग द्वारा जानने में बिल्कुल असमर्थ है उसे किसी संप्रदाय-संबंधी विषय के जाल में फँसाना गर्हणीय है। ऐसे कार्य के दो ही परिणाम हो सकते हैं—किसी अन्य व्यक्ति से सामग्री-संकलन कराकर दूसरों की सहायता से घर बैठे शोधप्रबंध लिख-लिखा कर छात्रा

द्वारा डॉक्टरेट की प्राप्ति अथवा इस विकट संकट से पराजित होकर 'अनुसंधान' का संधान छोड़कर घर बैठ रहना। दोनों ही स्थितियाँ अवांछनीय हैं। भगवान् की अतिविचित्रकार्यकरणशीला माया की अनिर्वचनीय लीला का एक रोचक दृष्टांत यह भी है कि व्यासपीठ से शोधार्थियों की रुचि के अनुकूल विषय-निर्वाचन का प्रवचन करने वाले एकाध सिद्धांतवादी मूर्धन्यशास्त्रज्ञ भी व्यवहार में उनके प्रणत कोमल शीश पर विषम विषयों का गर्दनतोड़ बोझा लाद देते हैं। एक दुर्विश्वसनीय तथ्य यह भी है कि इस नियम के प्रचारक शोधसंचालक अपने स्मृति-दोष के कारण कभी-कभी दो-दो अनुसंधाताओं को एक ही विषय के खूँटे से बाँध देते हैं। रहस्योद्घाटन के बाद विषय-परिवर्तन का कष्ट बेचारे निरपराध विद्यार्थियों को भोगना पड़ता है।

२. विषय-निर्वाचन में स्वतंत्र अनुसंधित्सु भी प्रायः अपनी प्रतिभा और विचारणा-शक्ति के बल पर अपने अनुसंधेय विषय का निर्णय नहीं करता। वह अपने मनोनीत पर्यवेक्षक या शुभचिंतक विद्वान् की शरण में जाकर उससे विषय सुझाने की प्रार्थना करता है। शोधार्थी की प्रवृत्ति और शक्ति को दृष्टि में रख कर उसे उपयुक्त विषय सुझा दिया जाता है। शोधाधिकारी औपचारिक रूप से स्वीकृति की मुहर लगा देते हैं। यह सरणि मध्यम कोटि की है।

३. प्रबुद्ध शोधार्थी (ऐसे शोधार्थियों की संख्या अत्यल्प है) अपने अध्ययन के आधार पर और स्वरुचि के अनुकूल अपने अनुसंधान का विषय स्वयं ही चुन लेता है, अधिकारियों के विचारार्थ, उनकी औपचारिक स्वीकृति के लिए, उनके समक्ष प्रस्तुत करता है। वे उस विषय को प्राप्तव्य उपाधि के उपयुक्त समझकर उस पर शोधकार्य करने की अनुमति दे देते हैं। यह सरणि सर्वोत्तम है।

संक्षेप में, विषय-निर्वाचन की आदर्श प्रणाली इस प्रकार होनी चाहिए। एम० ए० पास कर लेने पर अनुसंधित्सु पहले अपनी रुचि के अनुसंधान का क्षेत्र चुन ले। अर्थात् भाषा, काव्यशास्त्र, लोकसाहित्य, विशिष्ट काव्यधारा, विशिष्ट संप्रदाय आदि में से जिस किसी में उसकी अधिक रुचि और पैठ हो, पहले उसका निश्चय कर ले। उसके बाद तत्संबंधी उपलब्ध सामग्री और संपन्न शोधकार्य का अध्ययन करे। इस अध्ययन-क्रम में जब वह इस बात का अनुभव करे कि उसके अनुसंधेय क्षेत्र के अमुक पक्ष का अनुसंधान नहीं हुआ है और यदि हुआ है तो उस पर नवीन दृष्टि से सूक्ष्मतर और व्यापक अध्ययन करने की अपेक्षा है, तब उस पक्षविशेष को वह अपने शोधकार्य का विषय बनाए। परिस्थिति के अनुसार विशेषज्ञ विद्वानों, संभाव्य पर्यवेक्षक और विभागाध्यक्ष से परामर्श करके पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन) के लिए आवेदन करे। इतनी सावधानी बरतने पर भी कभी-कभी विषय तिरस्कृत अथवा परिवर्तित कर दिया जाता है। इस अप्रत्याशित आपत्ति से भयभीत होकर आवेदनपत्र भेजने और स्वीकृति पाने तक के मध्यांतर को

व्यर्थ गवाँना नहीं चाहिए। अनुसंधान-कार्य में लगे रहकर समय का सदुपयोग करना ही श्रेयस्कर है।

प्रत्येक अनुसंधित्सु का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह विभिन्न विश्वविद्यालयों में संपन्न और संपद्यमान शोधकार्य के विषयों पर विचार करके ही अपने अनुसंधेय विषय का निर्णय करे। अनुसंधित्सुओं के उपयोग के लिए उन विषयों की विस्तृत सूची इस पुस्तक के 'अनुबंध' में प्रस्तुत की जा रही है। जिन विषयों पर शोधकार्य पूरा नहीं हुआ है उनकी भी दो श्रेणियाँ हैं। (१) वे विषय जिन पर वस्तुतः कार्य हो रहा है। (२) वे विषय जिन पर शोधकार्य करने की अनुमति तो मिल चुकी है किंतु कार्य का श्रीगणेश हुआ ही नहीं अथवा कुछ दूर चलकर बिल्कुल ठप्प पड़ा हुआ है। इन सब ज्ञातव्य बातों की यथातथ्य सूचना दे सकना मेरे लिए संभव नहीं है।

हिंदी में आठ-नौ सौ स्वीकृत शोध-विषयों तक का अनुमान लगाने वाले विद्वान् भी इस आशंका से आतंकित होने लगे हैं कि हिंदी-अनुसंधान के क्षेत्र में अनुसंधेय विषयों का अकाल पड़ने वाला है। लगभग दो हजार विषयों की सूची तो और भी भयंकर प्रतीत होगी। यह मनःकल्पित भय निराधार है। अभी सहस्रों विषयों पर शोधप्रबंध लिखने के लिए विस्तृत अवकाश है। उसका दिग्दर्शन मात्र ही इस कथन की सार्थकता प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त होगा।

१. पहले पाठालोचन को लीजिए। हिंदी-अनुसंधान के इस क्षेत्र में जो कार्य हुआ है या हो रहा है वह नगण्य है। अभी तक केवल 'रामचरितमानस', 'पदमावत,' 'कबीर-ग्रंथावली' आदि कतिपय गिनी-चुनी रचनाओं का ही पाठानुसंधान हो सका है। प्राचीन साहित्य के सम्यक् अनुशीलन के लिए उन कृतियों के सुसंपादित संस्करणों की उपलब्धि नितांत आवश्यक है। ऐसे संस्करणों के अभाव में प्राचीन सहित्यकारों की भाषा, शब्दावली आदि का वैज्ञानिक अध्ययन असंभव है। अतएव प्राचीनसाहित्य-विषयक शोधकार्य की ठोस आधारभूमि तैयार करने के लिए सैकड़ों महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के पाठनिर्णय की अपेक्षा है। आज यह प्रश्न उठाना निरर्थक है कि पाठानुसंधान साहित्य की डॉक्टरेट उपाधि के उपयुक्त विषय है या नहीं। विश्वविद्यालयों ने इसका औचित्य स्वीकार कर लिया है। इस पर एतराज़ करने की गुंजाइश नहीं है। साहित्यालोचनात्मक अनुसंधान की तुलना में पाठालोचन अधिक श्रमसाध्य एवं नीरस है, कम विज्ञापक एवं कम द्रविणदायक है। सरल-सुखद लघुतम मार्ग सभी को प्रिय होता है। इस कारण से सामान्य प्राध्यापक और विद्यार्थी की प्रवृत्ति पाठानुसंधान की ओर नहीं होती। विश्वविद्यालयों में इसके लिए विशेष सुविधा की व्यवस्था होनी चाहिए।

२. भाषा-संबंधी अध्ययन का परिवेश तो और भी विस्तृत है। महान् साहित्यकारों की भाषा के विविध पक्षों और उनकी शब्दावली के सूक्ष्म अध्ययन की आव-

श्यकता है। दार्शनिक और सांप्रदायिक कवियों की पारिभाषिक शब्दावली का विवेचन विशेष रूप से अपेक्षित है। हिंदी में एक भी कोश ऐसा नहीं है जिसमें शब्दों की निरुक्ति और उनके अर्थ-विकास का प्रामाणिक विवेचन किया गया हो। पचासों अनुसंधाताओं के संमिलित प्रयत्न से ही इस अंग को संपन्न किया जा सकेगा।

आगरा जिले की बोलियाँ, मथुरा जिले की बोलियाँ, बागपत तहसील की खड़ीबोली, 'बैसवाड़े की जनपदीय भाषा' आदि विषय स्वीकृत हो चुके हैं। इन्हींके ढंग पर हिंदी-भाषी प्रत्येक जिले, तहसील और जनपद की बोलियों का ध्वनि-प्रक्रिया, रूपविचार, वाक्यविचार, लोकोक्तियों-मुहावरों आदि की दृष्टि से और उनकी सांस्कृतिक, औद्योगिक आदि शब्दावलियों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। विभिन्न प्रदेशों की जातियों-उपजातियों, उनके स्त्री-पुरुषों और विभिन्न जनपदों के स्थानों के नामों आदि के अनुशीलन के लिए भी पर्याप्त अवकाश है। हिंदी की गणितीय शब्दावली या विधि-शब्दावली की भाँति ही हिंदी में प्रयुक्त और प्रयोग के लिए निर्मित रसायनशास्त्र, भौतिकी, नृतत्त्व-विज्ञान, मनोविज्ञान, वाणिज्यशास्त्र आदि की शब्दावली पर भी अनेक शोधप्रबंध लिखे जा सकते हैं। हिंदी की विभिन्न बोलियों एवं हिंदी तथा हिंदीतर भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का कार्य तो अभी शुरू ही हुआ है। ध्वनिविज्ञान, अर्थविज्ञान, पदविज्ञान, क्रिया-रूप, लोकोक्ति-मुहावरे, विभिन्न प्रकार की शब्दावली आदि—एक-एक दृष्टिकोण से कई-कई शोधप्रबंध प्रणेतव्य हैं।

३. विशिष्ट साहित्यकारों और रचनाओं के अध्ययन को भी आगे बढ़ाने की जरूरत है। कृतियों के संपादन और भाषाविषयक अनुशीलन की चर्चा की जा चुकी है। 'रामचरितमानस के उपमान,' 'पदमावत का सादृश्यविधान,' 'जायसी का काव्यशिल्प' आदि के समान ही प्रत्येक प्रसिद्ध कवि के काव्यशिल्प, बिंबविधान, अप्रस्तुत-योजना, प्रतीक-विधान, अलंकार-योजना, रसव्यंजना, ध्वनिव्यंजना आदि पर कार्य किया जा सकता है। अपेक्षानुसार अध्येतव्य साहित्यकारों की रचनाओं के सांस्कृतिक, समाजशास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक अनुशीलन की संभावनाएँ कम नहीं हैं। हिंदी के विशिष्ट कवियों, नाटककारों, उपन्यास-कहानी-लेखकों या आलोचकों के साथ हिंदीतर-साहित्य के समशील कवियों आदि के तुलनात्मक अध्ययन की समीचीनता भी निर्विवाद है। इस क्षेत्र में भी आगे अनुसंधान करने का पर्याप्त अवकाश है।

४. समीक्षाशास्त्र के क्षेत्र में विशेषरूप से व्यवस्थितयोजनानुसार अनुसंधान अपेक्षित है। एक-एक काव्यांग की दृष्टि से हिंदी-कविता, प्रत्येक युग की कविता, प्रत्येक महान् कवि की कविता और प्रत्येक महती कृति की कविता का आगमनात्मक विधि से तत्त्वाभिनिवेशी अनुशीलन होना चाहिए। इसी प्रकार नाटकों,

उपन्यासों, कहानियों, निबंधों आदि का भी गवेषणात्मक अध्ययन करणीय है। एतादृश शोधकार्य की उपलब्धियों के आधार पर ही हिंदी के काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि का प्रतिष्ठापन किया जा सकता है।

हिंदी-साहित्यशास्त्र के निर्माण की आवश्यकता का अनुभव सभी करते हैं। अभी तक हिंदी के अनुसंधाता प्रायः संस्कृत-काव्यशास्त्र या विदेशी साहित्यसिद्धांतों के मानदंड से ही निगमनात्मक विधि से साहित्यकारों की समीक्षा करते रहे हैं। कभी-कभी दोनों का मिश्रण या गड़बड़झाला भी कर दिया जाता है। समन्वय का प्रयास निंदनीय नहीं है, यदि वह समझ-बूझ के साथ किया जाए। परंतु, मूल शास्त्रकारों की विचारधारा में अवगाहन किये बिना ही केवल गलत-सही अनुवादों के नोचे-खसोटे अंशों, सुनी-सुनायी बातों और पराजित पूंजी के सहारे आचार्य की गद्दी पर चढ़ बैठना हिंदी के लिए गौरव की बात नहीं है। यह धाँधलेबाज़ी अधिक दिन तक नहीं चलेगी। ठोस साहित्यशास्त्र के प्रणयन के लिए कठिन अध्यवसाय अपेक्षित है। आप्त लक्षणग्रंथों के निर्माण के लिए उपलब्ध साहित्यशास्त्र, उसके सहायक दर्शन आदि शास्त्रों तथा लक्ष्य ग्रंथों का गंभीर अनुशीलन अनिवार्य है। यह कार्य कोमलमति अनुसंधित्सुओं के वश का नहीं है। प्रौढ़बुद्धि शोधार्थियों को ही इस दिशा में पदार्पण करना चाहिए। संस्कृत, दर्शन आदि से अनभिज्ञ छात्र-छात्राओं का (और हिंदी का भी) कल्याण इस बात में है कि वे शब्दशक्ति, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि ग्रंथिल विषयों में न उलझें। मजबूर किये जाने पर येन केन प्रकारेण योग-क्षेम का उपाय करें।

५. मत्स्यप्रदेश, कूर्मांचल, गुजरात, रीवाँ दरबार, अकबरी दरबार, पन्ना दरबार, काशी-राज्य, ओरछा, अयोध्या आदि के कवियों आदि के योगदान पर शोधप्रबंध लिखे जा चुके हैं या लिखे जा रहे हैं। इसी प्रकार अन्य प्रदेशों, जिलों, जनपदों, दरबारों आदि के साहित्यकारों (कवियों, कथाकारों आदि) की हिंदी-साहित्य (कविता, कथासाहित्य, नाटक आदि) को देन पर अलग-अलग शोधप्रबंध लिखे जा सकते हैं। कवियों के अंतर्गत भी औचित्यानुसार निर्गुणसंतकवियों, प्रेमाख्यानकवियों, कृष्णकवियों, रामकवियों, ब्रजभाषा-कवियों, अवधीकवियों, प्रबंधकवियों, मुक्तककवियों आदि को शोध का विषय बनाया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्वाचित विषय इयत्ता और ईदृक्ता की दृष्टि से शोधप्रबंध के अनुरूप होना चाहिए। अननुसंहित साहित्यधाराओं, उपधाराओं, पंथों, संप्रदायों, उपसंप्रदायों और कालविशेष या अंचलविशेष के साहित्यकारों का [illegible] दर्शन, संस्कृति, समाजशास्त्र आदि की दृष्टि से तत्त्वाभिनिवेशी अध्ययन [illegible] है। परंतु, किसी संप्रदाय या पंथ के तथाकथित साहित्यकार की निस्सार [illegible] पर विभिन्न दृष्टियों से अनेक शोधप्रबंधों (?) का [illegible]-विस्तार [illegible] एच० डी० या डी० लिट० की उपाधियाँ बाँटना हिंदी-अनुसंधान [illegible] है

लिए घातक है।

६. जनतंत्र और जनवाद के इस युग में जनपदीय साहित्य की महत्त्व-स्वीकृति स्वाभाविक है। विश्वविद्यालयों के शोधसंचालकों का ध्यान लोकवार्ता और लोक साहित्य की ओर भी आकृष्ट हुआ है। आंचलिकता की लहर ने उसे और भी शक्ति प्रदान की है। इस क्षेत्र में स्वीकृत शोधप्रबंधों और विषयों की परंपरा का विस्तार करते हुए हिंदी-साहित्य की विभिन्न धाराओं, उपधाराओं, साहित्यरूपों (नाटक, उपन्यास आदि) आदि में निबद्ध लोकवार्तातत्त्व, एवं विभिन्न जनपदों और बोलियों के लोकसाहित्य, लोकगाथा, लोकनाट्य, लोकगीत, केवल नारियों के लोकगीत, केवल संस्कारसंबंधी लोकगीत, अंचलविशेष के साहित्य या लोक साहित्य में अभिव्यक्त लोकसंस्कृति आदि को विषय बनाकर बहुत से शोधप्रबंध लिखे जा सकते हैं। विभिन्न लोकसाहित्यों, लोकगीतों आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। एक संभावना यह भी है कि लोकसाहित्य के संकलन और सटिप्पण-समालोचनात्मक संपादन पर भी डॉक्टरेट दी जाए।

७. सीमित विषय का ऐतिहासिक और सूक्ष्म अध्ययन भी हो सकता है, जैसे—हिंदी-कविता या युगविशेष की कविता में पुष्पवर्णन, पादपवर्णन, पशुवर्णन, नेत्र-वर्णन, केशवर्णन या प्रसाधनवर्णन आदि। 'हिंदी भाषा और साहित्य को विदेशियों की देन' आदि के वज़न पर अन्य विषय भी लिये जा सकते हैं—हिंदी भाषा और साहित्य को बंगालियों की देन, पंजाबियों की देन, गुजरातियों की देन आदि। अब अनूदित साहित्य को भी लोग शोधप्रबंध के उपयुक्त विषय मानने लगे हैं, जैसे—संस्कृत-नाटकों के हिंदी-अनुवाद, बँगला के हिंदी-अनुवाद या आधुनिक भारतीय भाषाओं का हिंदी-अनुवाद-साहित्य। इसी तरह के अन्य विषयों का भी चुनाव किया जा सकता है—संस्कृत-कविताओं के हिंदी-अनुवाद, संस्कृत-काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के हिंदी अनुवाद, गुजराती के हिंदी-अनुवाद, अंग्रेजी के हिंदी-अनुवाद आदि। हिंदी का पत्र-साहित्य (Pastolary literature) तो उपेक्षित ही रहा है। हिंदी भाषा और साहित्य की विभिन्न स्थितियों एवं गतिविधियों को उनके व्यापक परि-प्रेक्ष्य में समझने के लिए वर्तमान एवं स्वर्गीय साहित्यकारों, संपादकों, साहित्यिक नेताओं आदि के पत्रों का अध्ययन बहुत उपयोगी है।

८. हिंदी-अनुसंधान की विषयसूची से ज्ञात होता है कि हिंदी के शोधकर्ताओं एवं संचालकों ने अनेक रूपों में नारी-संबंधी अनुसंधान का वैशिष्ट्य स्वीकार किया है। उसके तीन मुख्य रूप हैं—नारियों का योगदान, साहित्यकारों की नारी-भावना और साहित्य में नारी-चित्रण। तदनुसार नारी-संबंधी अन्य विषयों पर शोधकार्य की संभावना है—किसी विशिष्ट युग, प्रदेश या जनपद की नारियों का हिंदी-साहित्य (कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक या आलोचना) को योगदान, विभिन्न बोलियों और जनपदों के लोकसाहित्य को नारियों की देन, प्रत्येक महान् साहित्य-

कार की नारी-भावना, विभिन्न साहित्यकारों के नारी-चित्रण, हिंदी एवं हिंदीतर साहित्यकारों की नारी-भावना का तुलनात्मक अध्ययन आदि।

हिंदी के शोधप्रबंधों एवं शोधविषयों की सूचियों से यह सिद्ध है कि अनेक विषयों की पुनरावृत्ति हुई है और हो रही है, उदाहरणार्थ—तुलसी-दर्शन, आधुनिक महाकाव्य, हिंदी-नाटक के [illegible], जायसी की भाषा, सूर की भाषा, बिहारी की भाषा आदि। हिंदी अनुसंधान के [illegible] तथा कल्याणकांक्षी मनीषी विषयों की पुनरावृत्ति के घोर विरोधी हैं। इस संबंध में मेरा निवेदन यह है कि पुनरावृत्ति की [illegible] मात्र से [illegible] उचित नहीं है। अनुसंधान का मुख्य प्रयोजन ज्ञान-विस्तार है। पुनरावृत्ति होने पर भी यदि किसी शोधप्रबंध के द्वारा अपेक्षित ज्ञान-विस्तार होता है तो वह निश्चय ही स्तुत्य है। [illegible] विषय का भी अधिक सूक्ष्म, व्यापक और [illegible] (मौलिक दृष्टिकोण से) किया गया पुनरध्ययन [illegible] नहीं है, परन्तु यदि परवर्ती शोधप्रबंध पूर्ववर्ती प्रबंध की ही अनुकृति है अथवा उसकी तुलना में घटिया है, उसमें दृष्टि की नवीनता या अध्ययन की सूक्ष्मता नहीं है, वह [illegible] करते हैं [illegible], तो इस प्रकार का [illegible] निश्चय ही निन्दनीय है। कई एक शोधप्रबंध ऐसे भी लिखे गये हैं जो अनुसंधान के नाम को कलंकित करते हैं। इन विषयों का पुनः पंजीकरण और उन पर शोधप्रबंधों का प्रणयन प्रोत्साहनीय नहीं है।

ज्ञान-प्रसार और [illegible] हित की दृष्टि से अधिक [illegible] विषय वह है जिस पर न तो शोधकार्य हुआ है और न हो रहा है। जिस विषय पर कार्य हो चुका है, उसका सूक्ष्मतर एवं विशदतर अध्ययन प्रस्तुत करना कठिन होता है। ऐसे विषयों का चुनाव उन्हीं विद्यार्थियों को करना चाहिए, जिनके ज्ञान की परिधि विस्तृत है और जिनका लेखन-शैली पर अधिकार है। जिन विषयों पर शोधकार्य हो रहा है उन पर कार्य करना भी [illegible] नहीं है। [illegible] के दृष्टिकोण से देखा जाए, तो हिंदी-अनुसंधान के हित में यही [illegible] है कि [illegible] विषय की पुनरावृत्ति न की जाए। किसी विषय पर लिखे [illegible] शोधप्रबंध के [illegible] पर यदि कोई दूसरा अनुसंधित्सु यह अनुभव करता है कि उस प्रबंध में [illegible] रह गयी है जिसकी पूर्ति अपेक्षित है [illegible] विषय पर [illegible] दृष्टिकोण से अनुशीलन करने की आवश्यकता है तो [illegible] है। यदि किसी अनुसंधित्सु को यह [illegible] है कि किसी विषय पर [illegible] रहा अनुसंधान, किसी [illegible] दृष्टिकोण से [illegible] रहा है तो [illegible] काल में ही भिन्न दृष्टि से उसी विषय पर [illegible] नहीं है। [illegible] आरंभ करने से पूर्व [illegible] अनुसंधित्सु [illegible] निर्देशक [illegible]।

अब तक यह प्रतिपादित किया गया कि अपने विषय का चुनाव करते समय अनुसंधित्सु को विश्वविद्यालय एवं पर्यवेक्षक, तथा संपन्न और संपद्यमान शोधकार्य का ध्यान रखना चाहिए। विषय की उपयुक्तता के संबंध में और भी बहुत-सी बातें स्मर्तव्य हैं। हिंदी की डॉक्टरेट के लिए हिंदी-संबंधी विषय ही चुना जा सकता है। 'हरिभद्र के प्राकृत-कथा-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन' पर हिंदी में पी-एच० डी० की उपाधि दी जा चुकी है। 'भविसयत्तकहा और अपभ्रंश-कथा-काव्य'-सरीखे विषयों पर शोधकार्य करने वाले विद्यार्थियों को भी हिंदी की डॉक्टरेट मिल जाएगी। किंतु इन विषयों पर हिंदी में अनुसंधान करने के औचित्य का समर्थन नहीं किया जा सकता। अनेक विषय ऐसे भी हैं जो हिंदी के अतिरिक्त विभागों में भी स्वीकृत किये जा सकते हैं। हिंदी पर अंग्रेजी के प्रभाव का अनुसंधान करने वालों को हिंदी में भी डॉक्टरेट मिली है और अंग्रेजी में भी; वाल्मीकि-रामायण एवं 'रामचरितमानस' के तुलनात्मक अध्ययन पर लिखित एक शोधप्रबंध हिंदी में स्वीकृत हो चुका है, और दूसरा संस्कृत में; तुलसी-दर्शन पर दर्शन-विभाग के अंतर्गत भी उपाधि प्रदान की गयी है, और हिंदी में भी। इसमें कोई अनौचित्य नहीं है।

किसी-किसी शोधसंचालक का आक्षेप है कि हिंदी-अनुसंधान में साहित्यिक और असाहित्यिक का भेद नहीं किया जा रहा है, मध्यकाल की बहुत-सी असाहित्यिक सामग्री पर धड़ाधड़ शोधप्रबंध लिखे जा रहे हैं; हिंदी-साहित्य की डॉक्टरेट के लिए विषय का साहित्यिक होना आवश्यक है। परंतु वे साहित्यिकता के स्वरूप का निरूपण नहीं करते। संभवतः, साहित्यिकता से उनका तात्पर्य है—काव्यात्मक साहित्य और तत्संबंधी आलोचना की विशेषताओं का भाव। तो फिर पाठानुसंधान, भाषावैज्ञानिक अनुसंधान और अधिकांश सांप्रदायिक साहित्य हिंदी-अनुसंधान-क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाएँगे। नीतिकाव्य कही जाने वाली रचनाओं के लिए प्रयुक्त 'नीति-काव्य' से 'काव्य' शब्द को निकाल देना पड़ेगा। इस प्रकार की झाड़ूमार कार्रवाई से हिंदी-अनुसंधान की परिधि संकुचित और विकल हो जाएगी। पहले ही कहा जा चुका है कि प्राचीन साहित्य के तात्त्विक अध्ययन के लिए पाठालोचन आवश्यक है। भाषावैज्ञानिक विषयों का हिंदी से सीधा संबंध है और साहित्यिक व्याख्यान के लिए भी इस अध्ययन की उपयोगिता असंदिग्ध है। हाँ, कवित्वहीन सांप्रदायिक साहित्य का अनुसंधान सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदी-साहित्य की भूमिका के रूप में होना चाहिए। जिन रचनाओं में कविता नहीं है, उनका काव्यशास्त्रीय अध्ययन हास्यास्पद है। जो सभी दृष्टियों से उपेक्षणीय हैं, उन पर अनुसंधान करना-कराना बिल्कुल व्यर्थ है।

अनुसंधेय विषय का आधार वास्तविक होना चाहिए। सत्य और तथ्य के अभाव में अनुसंधान कैसा ? गंधर्वनगर के वैभव, आकाशकुसुम के सौंदर्य अथवा

वंध्यापुत्र के पराक्रम का वर्णन अनुसंधान नहीं है । उदाहरण के लिए, 'हिंदी और मराठी काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन' पर विचार कीजिए । हिंदी का अपना काव्यशास्त्र कहाँ है ? मराठी का अपना काव्यशास्त्र कहाँ है ? इन भाषाओं में काव्यशास्त्र पर लिखित ग्रंथों में या तो भरत, अभिनवगुप्त आदि के सिद्धांतों का प्रतिपादन है या अरस्तू आदि के। हिंदी या मराठी की काव्यकृतियों के आधार पर काव्यशास्त्र का निर्माण अभी तक नहीं हुआ । इसीलिए, काव्यशास्त्र और मराठी-साहित्य के एक प्रतिष्ठित विद्वान् ने उपर्युक्त विषय पर आक्षेप किया था—यह विषय ही गलत है, इस पर अनुसंधान करने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए।

जो भी विषय लिया जाए उसका शीर्षक, उसमें प्रयुक्त शब्दावली के प्रत्येक शब्द का अर्थ, सुस्पष्ट और सुनिश्चित होना चाहिए । उसे गूंगे का गुड़ मत बनाइए । 'अर्थ' का अर्थ है—वह वस्तु (पदार्थ) जिसके लिए शब्द का व्यवहार किया जाता है । यदि विषय के अभिधान से अभिधेय अर्थ की संदेहमुक्त प्रतीति नहीं हुई तो वह निश्चित रूप से अनर्थकारी है । एक विषय है 'हिंदी आलोचना के विकास का तुलनात्मक अध्ययन' । तुलना एक से अधिक वस्तुओं की की जाती है । यहाँ यह बात बिल्कुल स्पष्ट नहीं है कि किसकी तुलना किसके साथ की जा रही है। दूसरा विषय है—'आनंदवाद का मनोवैज्ञानिक आधार और कामायनी का तुलनात्मक अध्ययन ।' 'कामायनी' एक ग्रंथ है। 'आनंदवाद का मनोवैज्ञानिक आधार' कोई ग्रंथ नहीं है। इन दोनों की तुलना कैसी ? तुलना दो समशील वस्तुओं में ही हो सकती है । वह 'उपमा' नहीं है, अतः 'भेदे साधर्म्यम्' का सिद्धांत भी उस पर लागू नहीं हो सकता। तीसरा विषय है—'हिंदी में भक्तिरस का विवेचन'। इसका वस्त्वर्थ (denotation) या स्वगुणार्थ (connotation) क्या है ? विषय का प्रत्यक्ष होने पर साक्षात् संकेतित अर्थ निकलता है—हिंदी में किया गया 'भक्तिरस का विवेचन'। खींच-तान करके दूसरा अर्थ निकाला जा सकता है—'हिंदी में भक्तिरस' का विवेचन। पहले अर्थ में यह विषय पी-एच० डी० के शोधप्रबंध के अयोग्य है। दूसरे अर्थ में हिंदी का क्या अर्थ होगा ? हिंदी के अंतर्गत हिंदी-कविता, हिंदी-नाटक, हिंदी-उपन्यास, हिंदी-कहानी, हिंदी-लोक-साहित्य आदि बहुत कुछ है। इस खोपड़ीतोड़ विषय की मर्यादा कहाँ है ? इस विषय का नामकरण कुछ इस प्रकार होना चाहिए था—'हिंदी-कविता में भक्ति-रस—एक विवेचन'। पी-एच० डी० के लिए यह भी अधिक है। 'भक्तिकालीन हिंदी-कविता में भक्तिरस' ही बहुत पर्याप्त है। 'सत्यं शिवं सुंदरम्', 'हिंदी काव्य में मानव और प्रकृति', 'महाकवि मैथिलीशरण के काव्य-संबंधी विधान का चरम-विकास' आदि अनिश्चितार्थक प्रयोग भी चिंत्य हैं। 'तुलसी और भारतीय संस्कृति' के अनुसंधाता का लक्ष्य है भारतीय संस्कृति की भूमिका में तुलसी-साहित्य का अध्ययन। इसलिए, विषय का अभिधान होना चाहिए था—भार-

तीय संस्कृति और तुलसी। एक अन्य विश्वविद्यालय में यही विषय इस नाम से स्वीकृत भी हुआ है। इसी प्रकार 'कामायनी और काश्मीरी शैवाद्वैत' का तात्पर्य स्पष्ट होने पर भी शब्दों का विन्यास-क्रम असंगत है। होना चाहिए था—काश्मीरी शैवाद्वैतवाद और कामायनी। और इस प्रसंग में 'अद्वैतवाद' की अपेक्षा 'अद्वयवाद' शब्द अधिक उपयुक्त है।

विषय-विस्तार की दृष्टि से अनुसंधान के विषय दो प्रकार के हो सकते हैं—१. व्यापक या सामान्य और २. सीमित या विशिष्ट। 'हिंदी-महाकाव्य', 'हिंदी-नाटक : उद्‌भव और विकास' आदि पहले प्रकार के विषय हैं। 'बीसवीं शती के 'महाकाव्य', 'हिंदी महाकाव्यों में नायक', 'हिंदी के ऐतिहासिक नाटक', 'हिंदी गीतिनाटच' आदि दूसरे प्रकार के विषय हैं। दूसरे वर्ग के विषयों को क्रमशः सीमित से सीमिततर किया जा सकता है—एक ही कवि या नाटककार, उसकी एक ही कृति अथवा एक ही कृति के पक्षविशेष का अध्ययन। राम-काव्य का अध्ययन व्यापक विषय है, केवल तुलसीदास का अध्ययन सीमित विषय है। 'तुलसीदास' की तुलना में 'रामचरितमानस का शास्त्रीय अध्ययन' सीमिततर है। उससे भी अधिक सीमित है 'रामचरितमानस में अलंकार-योजना' और उससे भी सीमिततर है 'रामचरितमानस के उपमान'। कोई विषय जितना ही व्यापक होगा, उसका अध्ययन उतना ही सामान्य होगा। उसमें प्रत्येक तत्त्व की सांगोपांग व्याख्या के लिए अवकाश नहीं है। विषय की परिधि जितनी ही परिसीमित होगी, विवेचन के लिए उतनी ही अधिक गहरी पैठ, सूक्ष्म छानबीन और पुंखानुपुंख विश्लेषण की आवश्यकता होगी। विषय-निर्वाचन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि व्यापकता और सीमा की भी सीमाएँ हैं। अतिव्यापकता और अतिपरिसीमन दोष हैं। हिंदी-अनुसंधान में विषयों के अतिपरिसीमन की नौबत अभी नहीं आयी है। अतिव्यापकता की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। 'हिंदी-काव्य में प्रेम-भावना' पर विचार कीजिए। 'प्रेम' के वृत्त में कामरति के अतिरिक्त वात्सल्य, भक्ति (प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना, प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी), देशप्रेम, प्रकृति-प्रेम आदि न जाने कितनी ही प्रेम-भावनाएँ समाविष्ट हैं। एक शोधप्रबंध में इन सबके साथ न्याय नहीं हो सकता। 'हिंदी काव्य में वेदांत का स्वरूप (सं० १७०० तक)' ऊपर से देखने में सीमित लगता है। परंतु बात ऐसी है नहीं। केवल ब्रह्मवाद या केवल विशिष्टाद्वैतवाद या केवल शुद्धाद्वैतवाद ही अपने में काफी है। 'हिंदी की सांस्कृतिक शब्दावली का बँगला, गुजराती और मराठी की सांस्कृतिक शब्दावली के साथ तुलनात्मक अध्ययन' एक शोधप्रबंध के शरीर में नहीं समा सकता। पी-एच० डी० की उपाधि के अभिलाषी एक अनुसंधाता के बूते के बाहर है। सांस्कृतिक

शब्दावली का ऐसा कुछ अंश है। 'हिंदी भाषा में पर्याय तथा अनेकार्थक शब्द', 'रामायण के पात्रों का स्वरूप-विवेचन' आदि विषय भी अतिव्यापक होने के कारण अग्राह्य हैं। भारी-भरकम नाम अधिक आकर्षक होता है। अतएव 'हिंदी के हिंदू कवियों के प्रेमाख्यान' के बदले 'भारतीय प्रेमाख्यान' नाम दे दिया जाता है, 'हिंदी-कविता में वात्सल्य रस' के बदले 'हिंदी-साहित्य में वात्सल्यरस' की कल्पना की जाती है। ऐसा करना न्यायोचित नहीं है।



चतुर्थ प्रकरण

प्रबंध की तैयारी

विषय के निश्चय और पंजीकरण के बाद अनुसंधान का विधिवत् कार्यारंभ होता है। अनुसंधाता को अध्यवसायपूर्वक प्रबंध-लेखन की तैयारी करनी पड़ती है। इस तैयारी के चार विभाग किये जा सकते हैं—१. रूपरेखा-निर्माण, २. ग्रंथ-सूची-पत्र (कार्ड) का विधान, ३. सामग्री-संकलन और ४. संकलित सामग्री का वर्गीकरण।

रूपरेखा

किसी भी विषय के व्यवस्थित अध्ययन और अधीत सामग्री के समंजस ग्रथन के लिए उसकी रूपरेखा निश्चित कर लेना आवश्यक है। शोधप्रबंध में इसकी आवश्यकता और भी अधिक है। कुछ विश्वविद्यालयों में यह नियम है कि अनुसंधित्सु को आवेदन-पत्र के साथ अपने शोध-विषय की रूपरेखा भी भेजनी पड़ती है। इस प्रकार की रूपरेखा के आरंभ में 'प्राक्कथन' शीर्षक के अंतर्गत शोधार्थी को यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि प्रस्तुत विषय का महत्त्व क्या है, उस पर कितना शोधकार्य हुआ है, उसकी उपलब्धियाँ और कमियाँ क्या है, तथा प्रस्तोतव्य शोध-प्रबंध के द्वारा उन कमियों की किन रूपों में पूर्ति की जाएगी।

यह बात स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि रूपरेखा-निर्माण का ऐसा कोई सर्वोपयोगी साँचा नहीं है जिसमें प्रत्येक अनुसंधाता अपने विषय की रूपरेखा ढाल सके। पाठानुसंधान, भाषाविज्ञान, काव्यशास्त्र आदि के विषय एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उनकी रूपरेखाएँ समान नहीं हो सकतीं। उनमें समानता केवल इतनी ही है कि उन सभी में भूमिका रहेगी, विषय का अध्यायों में विभाजन किया जाएगा और अंत में प्रबंध का उपसंहार होगा। अपेक्षानुसार 'परिशिष्ट' की योजना की जाएगी। 'भूमिका' भी मुख्य शोधप्रबंध का एक अंग है। अतः, उसे प्रबंध का 'प्रथम अध्याय' मानना ही तर्कसंगत है। इसके अंतर्गत विवेच्य विषय की परिस्थितियों (साहित्यकार के व्यक्तित्व और परिवेश) का विश्लेषण करके प्रतिपाद्य विषय के साथ उनका संबंध निर्दिशित करना चाहिए। उदाहरण के लिए—'पदमावत' के अध्ययन की

भूमिका में यह विवेचित कर देना समीचीन है कि उसके निर्माण में मलिक मुहम्मद जायसी के व्यक्तित्व और युगीन परिस्थितियों ने किस प्रकार योगदान किया है। कार्य-कारण-संबंध के आख्यान से अध्येतव्य विषय के मर्म को समझने में सहायता मिलती है। भूमिका के विषय में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वह, महत्त्व-पूर्ण होते हुए भी, शोधप्रबंध का अर्धांग नहीं है। किसी भी दशा में उसे पंचमांश से आगे नहीं बढ़ने देना चाहिए। शोधप्रबंध के पूर्ण हो जाने पर 'भूमिका' में परि-वर्तन, परिवर्धन या काट-छाँट की आवश्यकता होती है। इन तथ्यों को दृष्टिपथ में रखते हुए 'भूमिका' की विस्तृत रूपरेखा बनायी जानी चाहिए।

मुख्य शोधप्रबंध के अध्यायों का विभाजन एवं उपविभाजन करते समय अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से यथासंभव बचना चाहिए। विवेचन के क्रम में शृंखला मिलाने के लिए या अध्याय को अपने में एक पूर्ण इकाई बनाने के लिए आवश्यक होने पर संक्षिप्त पुनरावृत्ति की जा सकती है। 'उपसंहार' में सामान्यतः निष्कर्षों की स्थापना की जाती है। वस्तुतः, संपूर्ण शोधप्रबंध में आदि से अंत तक तथ्यों का विवेचन-विश्लेषण करके निष्कर्षों (सत्यों) का प्रस्थापन किया जाता है। निष्कर्ष-प्रस्थापन अध्याय के विभिन्न भागों में भी किया जाता है, अध्याय के अंत में भी किया जाता है, और शोधप्रबंध के अंत में भी। 'उपसंहार' का अर्थ है—विस्तारित वस्तु को समेट लेना। तदनुसार उपसंहार लिखने की एक पद्धति यह है कि उसमें प्रबंधगत समस्त विवेचन का सारभूत निष्कर्ष दे दिया जाए। दूसरी पद्धति यह है कि पूर्ववर्ती अध्यायों में किये गये विवेचन के आधार पर कुछ नयी बात कही जाए। विषय के अनुसार किसी एक पद्धति अथवा दोनों के समन्वित रूप का निर्वाह किया जा सकता है। रूपरेखा बनाते समय भी ये बातें स्मरणीय हैं।

अधिकतर अनुसंधित्सु स्वयं रूपरेखा तैयार करने में समर्थ नहीं होते। इसलिए वे अपने पर्यवेक्षक या अन्य शुभचिंतक विद्वानों की सहायता से यह कार्य संपन्न करते हैं। कभी-कभी तो वे दूसरों के द्वारा बनायी गयी रूपरेखा ही, उसे समझे बिना, अपने आवेदन-पत्र के साथ भेज देते हैं। आगे चलकर उन्हें परेशान होना पड़ता है। दूसरों से सहायता लेना बुरा नहीं है; लेकिन उस सहायता का समझ-बूझ कर उपयोग करने में ही कल्याण है।

रूपरेखा अस्थायी होती है। 'आउटलाइन' का एक अर्थ है—रफ़ ड्राफ़्ट। विषय का व्यवस्थित ज्ञान हो जाने पर ही उसका सही रूप स्पष्ट होता है। अतः रूपरेखा को कामचलाऊ मानकर ही अनुसंधान-कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। कभी-कभी रूपरेखा में आमूल परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। जिन विश्वविद्यालयों में रूपरेखा को नियमतः विशेष गौरव दिया जाता है उन विश्वविद्यालयों में शोध-कार्य करने वाले अनुसंधाताओं को चाहिए कि अपनी परिवर्तित रूपरेखा के विषय

में वैधानिक स्वीकृति यथासमय ले लें। मधुर आश्वासन के धोखे में न रहें। समर्थ लोगों की बात और है। वे तो अनुसंधान-समिति और विद्यापरिषद् की वैधानिक स्वीकृति के बिना ही परिवर्तित विषय पर शोधप्रबंध प्रस्तुत करके डॉक्टरेट पा जाते हैं।

रूपरेखा बनाने या अपने प्रतिपाद्य विषय का विधिवत् अध्ययन आरंभ करने के पूर्व अनुसंधाता को अपने विषय से संबंध रखनेवाले या उससे मिलते-जुलते चार-छः उत्तम शोधप्रबंधों का अवधानपूर्वक अध्ययन करके अपने शोधप्रबंध की यथाशक्ति स्पष्ट धारणा बना लेनी चाहिए। इसके साथ ही विषय के शास्त्रीय पक्ष का ज्ञान भी आवश्यक है। उदाहरण के लिए, 'प्रसाद का दर्शन' विषय पर अनुसंधान करनेवाले विद्यार्थी को पहले यह समझ लेना होगा कि—दर्शन का स्वरूप क्या है, उसका प्रयोजन क्या है, उसके प्रतिपाद्य विषय क्या हैं, दर्शनशास्त्री के सिद्धांत-प्रतिपादन और कवि की दार्शनिक अभिव्यक्ति में क्या भेद है, भारतीय दर्शनों और विशेषकर प्रसाद को प्रभावित करनेवाले दर्शनों के मूल सिद्धांत क्या हैं, इत्यादि। जब तक उसकी मनोदृष्टि के सामने दार्शनिक विवेचना की रूपरेखा का स्पष्ट चित्र नहीं होगा तब तक उसकी समझ में यही नहीं आएगा कि प्रसाद की रचनाओं से क्या नोट करें, और क्या न करें। उक्त प्रकार से साधन-संपन्न होकर ही शोधार्थी को अपने विषय के विशिष्ट अनुसंधान में प्रवृत्त होना चाहिए।

ग्रंथसूची-पत्र (बिब्लिओग्राफ़ी-कार्ड)

अनेक विश्वविद्यालयों में रूपरेखा के साथ ही ग्रंथसूची भेजने का भी नियम है। नियम हो या न हो, शोधकार्य के आरंभिक चरण में ही कामचलाऊ रूपरेखा की भाँति कामचलाऊ ग्रंथसूची तैयार कर लेना उपयोगी और आवश्यक है। अध्येतव्य ग्रंथों की सूची के अभाव में अध्ययन विशृंखलित हो जाता है, अनुसंधाता को अंधकार में टटोलना पड़ता है। आरंभिक सूची का अपूर्ण होना स्वाभाविक है। अनुसंधान के क्रम में अधीत अन्य ग्रंथों को भी संमिलित करके इस सूची को पूर्ण कर लेना चाहिए। ग्रंथसूची तैयार करते समय ग्रंथों की उपजीव्यता, उपस्कारकता, रचनाकाल, प्रतिपाद्य विषय आदि का ध्यान रखना चाहिए।

ग्रंथसूची और तथ्यसंग्रह के लिए पत्र-पद्धति (कार्ड सिस्टम) सर्वश्रेष्ठ है। बाजार में बने-बनाये कार्ड भी मिलते हैं। वे मोटे कागज के बने होते हैं और दाम भी अधिक देना पड़ता है। सामान्य अनुसंधाता के लिए व्यवहार्य उपाय यह है कि वह कागज़ लेकर स्वयं कटा ले। फ़ुलस्केप साइज के कागज में तीन पत्र आसानी से बन जाते हैं। एक पत्र पर एक ही ग्रंथ का नाम लिखा जाना चाहिए। बायीं ओर काफी हाशिया छोड़ना जरूरी है ताकि क्लिप लगाने पर या पंच करने पर लिखित अंश दबने न पाए। पत्र पर ग्रंथ का नाम, संस्करण, लेखक (संपादक या संग्रहकार) का

नाम, प्रकाशक का नाम और प्रकाशन-काल स्पष्टाक्षरों में अंकित कर लेना चाहिए। उसे पुनः मिलाकर देख लेना चाहिए कि कोई गलती तो नहीं हो गयी। ज़रा-सी असावधानी से आगे चलकर दिक्कत का सामना करना पड़ सकता है। इन पत्रों को ग्रंथों के नामानुक्रम से रखना चाहिए। नये ग्रंथों को उस क्रम में यथास्थान लगा देना चाहिए। इस व्यवस्था से दो लाभ हैं। १. अनुसंधान की प्रक्रिया में यदि किसी ग्रंथ के नाम आदि के प्रत्यभिज्ञान की आवश्यकता हुई तो उसका पत्र सरलता से मिल जाएगा। २. शोधप्रबंध के समाप्त हो जाने पर वर्णानुक्रम से ग्रंथसूची टाइप की जा सकेगी।

सामग्री-संकलन

'सामग्री-संकलन' का अर्थ है—तथ्य-संग्रह। कहा जा चुका है कि तथ्यों की संख्या अपरिमित है। अनुसंधाता को उस अनंत-तथ्य-राशि में से संग्राह्य तथ्यों का संकलन करना पड़ता है। उसे अपनी ववेचन-शक्ति के आधार पर यह निर्णय करना चाहिए कि कौन-से तथ्य उसके शोधप्रबंध के लिए महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी हैं, और कौन-से अनुपयोगी तथा उपेक्षणीय हैं। उपयोगी तथ्यों के भी दो वर्ग हैं—१. आवश्यक या सारभूत, जिनके आधार पर सत्यों की स्थापना की जाती है, और २. सहायक या गौण, जो उस स्थापना का पोषण करते हैं। दोनों ही प्रकार के उपयोगी तथ्य संग्रहणीय हैं। यह बात अनुभव-सिद्ध है कि समस्त संकलित सामग्री शोधप्रबंध में निबद्ध नहीं की जा सकती। उसका बहुत-सा अंश अनुपयोजित ही रह जाता है। अनुपयोग के संदेह से ग्रस्त होकर तथ्य-संग्रह में कृपणता करना भूल है। जो कुछ भी उपयोगी प्रतीत हो उसे संकलित कर लेना ही हितकर है। कभी-कभी सामग्री का साधन दुबारा उपलब्ध नहीं होता और बाद में आवश्यकता का अनुभव होने पर उसकी कमी खटकने लगती है।

विषय की विभिन्नता के अनुसार सामग्री के स्रोत या क्षेत्र भी भिन्न होते हैं। तदनुरूप सामग्री-संकलन की पद्धतियाँ भी भिन्न होती हैं। स्थान-नामों पर कार्य करनेवाले विद्यार्थी को क्षेत्र-कार्य करना पड़ता है। 'रामचरिमानस में अलंकार-योजना' पर अनुसंधान करनेवाला छात्र आसन-कार्य से ही काम चला सकता है। सांस्कृतिक अध्ययन करते समय चित्रकला, मूर्तिकला आदि की जानकारी भी हासिल करनी पड़ती है। ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन के लिए प्रयोगशाला का उपयोग आवश्यक है। साहित्यिक अनुसंधान में पुस्तकालय एवं संग्रहालय का उपयोग पर्याप्त है। प्रतिदिन पुस्तकालय में जानेवाले अनेक व्यक्ति उसका उपयोग करना नहीं जानते। ऐसी दशा में पुस्तकालय के कार्यकर्ताओं की सहायता से अध्ययन की सामग्री प्राप्त करने का उपाय करना चाहिए। हमारे विश्वविद्यालय उच्चतम शिक्षा के केंद्र हैं, फिर भी उनके पुस्तकालयों की अवस्था दयनीय है।

सामग्री-संकलन के लिए भी पत्र-पद्धति ही संस्तुत्य है। पत्र (स्लिप) की एक ही ओर, काफी हाशिया छोड़कर, नोट लेना चाहिए। शीर्षक देने और अपेक्षित टिप्पणियाँ लिखने के लिए पत्र के ऊपर, नीचे और दाहिनी ओर भी अवकाश रखना आवश्यक है। एक पत्र पर एक ही उद्धरण या विचार-बिंदु टाँकना सुविधाजनक है। वर्गीकरण में इससे बहुत सहायता मिलती है। यदि कोई उद्धरण एक पृष्ठ पर न अँट रहा हो, तो पत्र की पीठ पर लिखकर पूरा किया जा सकता है।

अन्य ग्रंथों से उद्धरण लेते समय अनिवार्य रूप से, और अपने शब्दों में सारांश लिखते समय सुविधा की दृष्टि से, प्रत्येक पत्र पर अंकित तथ्य का पूरा संदर्भ भी टाँक लेना चाहिए। ऐसा न करने पर आगे चलकर परेशानी खड़ी हो सकती है। यदि ऐसा उद्धरण लिया जा रहा हो जो स्वयं किसी अन्य पुस्तक से उद्धृत हो तो उसे मूल ग्रंथ से मिलाकर जाँच लेना श्रेयस्कर है। यदि ऐसा न किया जा सके तो जिस पुस्तक से वह अंश उद्धृत है और जिस पुस्तक में उद्धृत किया गया है उन दोनों के संदर्भ टीप लेना आवश्यक है। निरी स्मरणशक्ति के भरोसे रहने पर भविष्य में दिक्कत हो सकती है। ईमानदारी तथा शुद्धि-अशुद्धि के उत्तरदायित्व की दृष्टि से भी यही उचित है। सभी बातें हर समय याद नहीं आतीं; इसलिए उद्धरण लेते समय उसके पार्श्व में उसकी वह विशेषता भी नोट कर लेना जरूरी है जिसके कारण वह उद्धरण लिया गया है। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से समशील या विरोधी पंक्तियाँ भी वहीं पर आलोचनात्मक टिप्पणी और संदर्भ के साथ अंकित कर ली जानी चाहिएँ।

प्रबंध की रूपरेखा के अनुसार प्रत्येक अध्याय के लिए, और यदि किसी अध्याय में कई परिच्छेद हैं तो प्रत्येक परिच्छेद के लिए अलग-अलग फ़ाइल रखना उपयोगी है। जो पत्र (स्लिप) जिस फ़ाइल का हो उसको यथास्थान उसी में रखते जाना चाहिए। इस प्रकार अध्येतव्य ग्रंथों से संग्राह्य सामग्री का संकलन हो जाने पर उन तथ्यों के वर्गीकरण और समायोजन का कार्य प्रारंभ करना चाहिए।

वर्गीकरण

सत्यों या निष्कर्षों की स्थापना के लिए उनके आधारभूत प्रकीर्ण तथ्यों के वर्गीकरण और संयोजन की अपेक्षा है। प्रत्येक अध्याय या परिच्छेद के पत्रों (पुर्जों) को उपशीर्षकों के अनुसार छाँट लेना चाहिए। फिर, उनको क्रम से व्यवस्थित कर लेना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शोधप्रबंध में तथ्यों के आख्यान का अभिप्राय बिखरे हुए तथ्यों के परस्पर-संबंध का तर्कसंगत विवेचन है। इसी दृष्टिबिंदु से तथ्यों का क्रमबद्ध संयोजन अभिप्रेत है। वर्गीकृत तथ्यों के द्वारा शोधप्रबंध का ढाँचा निर्मित करके प्रबंध-लेखन में प्रवृत्त होना चाहिए।

पंचम प्रकरण

उद्धरण

वर्गीकृत और संयोजित तथ्यों के आधार पर अनुसंधाता को लेखन-कार्य आरंभ करना चाहिए। तथ्यों के आख्यान या पुनराख्यान में उनके स्वरूप, परस्पर-संबंध और कार्य-कारण-परंपरा का अर्थगर्भित शब्दावली में व्याख्यान आवश्यक है। प्रत्येक शीर्षक या उपशीर्षक के अंतर्गत किये गये तथ्याख्यान से उपलब्ध निष्कर्षों का यथायोग्य निर्विकल्प प्रतिपादन अपेक्षित है। साहित्यिक शोधप्रबंध के प्रणेता का कर्तव्य है कि वह 'प्रतिपाद्य वस्तु स्वरूपतः क्या है ?' इस प्रश्न का समाधान करते हुए इन दो प्रश्नों का भी तर्कसंगत समाधान करे कि 'वह कैसी है ?' और 'क्यों है ?'। **प्रथम प्रकरण** में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अनुसंधान या शोधप्रबंध में विषय का एकतान चिंतन करके, व्यापक पटभूमिका में, तत्त्वाभिनिवेशी परिप्रेक्षक-दृष्टि से, सुष्ठु प्रतिपादन-शैली में, प्रतिपाद्य विषय का प्रमाण-संमत अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। अपेक्षित उद्धरण, संदर्भोल्लेख और अनुबंध-योजना शोधप्रबंध के आवश्यक धर्म हैं। पंचम, षष्ठ और सप्तम प्रकरणों में क्रमशः उनका विशद विवेचन किया जाएगा।

अनुसंधान के प्रसंग में 'उद्धरण' का अर्थ है—किसी उक्ति का अविकल ग्रहण। इसके चार रूप हो सकते हैं—

१.	लिखित उक्ति का लिखित रूप में ग्रहण	} शोध प्रबंध में
२.	अलिखित उक्ति का लिखित रूप में ग्रहण	
३.	लिखित उक्ति का मौखिक ग्रहण	} मौखिक परीक्षा में
४.	अलिखित उक्ति का मौखिक ग्रहण	

एक प्रसिद्ध कहावत है—सौ कही न एक लिखी। इसका कारण यह है कि अलिखित उक्ति की प्रामाणिकता संदिग्ध है। विवेकनिष्ठ श्रोता या पाठक का तर्कशील मन अलिखित उक्ति के उद्धरण पर सहसा विश्वास करने के लिये तैयार नहीं होता। अतएव अनुसंधाता को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यथा-संभव लिखित उक्तियों के ही उद्धरण दिये जाएँ। किसी लिखित प्रमाण के पोषक-रूप में मौखिक वचन का उद्धरण अभिनंदनीय है। किंतु ऐसी परिस्थिति में जहाँ

कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है, किसी आप्त वक्ता की अलिखित उक्ति का उद्धरण विशेष आपत्तिजनक नहीं है।

उद्धरणों के स्रोत तीन वर्गों में रखे जा सकते हैं—

१. अध्येतव्य विषय की रचना अथवा रचनाओं से

२. अध्येतव्य विषय पर लिखित आलोचनात्मक शोधपरक कृतियों से

३. अपने विवेचन के पोषक शास्त्रों या अन्य सहायक ग्रंथों से

उक्त तीनों ही प्रकार के उद्धरणों का मूल प्रयोजन अपने शोधप्रबंध को प्रामाणिक, पुष्ट और ग्राह्य बनाना है। कोई भी अनुसंधान और विवेचन-विश्लेषण शून्य में नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, 'रामचरितमानस' पर शोध-प्रबंध लिखते समय केवल अपने शब्दों में यह लिख देने मात्र से काम नहीं चलेगा कि तुलसीदास ने स्वयं कहा है कि मानस के सात सोपान रामभक्ति के पंथ हैं जिन्हें देखने के लिए ज्ञान-दृष्टि की आवश्यकता है। अनुसंधाता का आवश्यक कर्तव्य है कि वह निम्नांकित पंक्तियों के उद्धरण द्वारा अपने कथन को स्पष्ट और प्रमाण-पुष्ट करे—

(क) एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥

—रामचरितमानस, ७।१२६।२

(ख) सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना॥

—रामचरितमानस, १।३७।१

इसी प्रकार 'कामायनी' के अनुसंधाता का यह कथन मात्र पर्याप्त नहीं है कि उपक्रम से लेकर उपसंहार तक 'कामायनी' में ईश्वराद्वयवाद का प्रतिपादन किया गया है। उसे अध्यवसायपूर्वक, उदाहरण देकर यह सिद्ध करना होगा कि उसका यह तात्पर्य-निर्णय 'कामायनी' द्वारा कहाँ तक समर्थित है।

पहले कहा जा चुका है कि शोधप्रबंध में विवेचन और विश्लेषण का विशेष महत्त्व है। अतएव अनुसंधाता को अध्येतव्य कृति से उद्धरण देकर ही संतोष नहीं कर लेना चाहिए। उसे उसका समुचित विवेचन और विश्लेषण भी करना चाहिए। अध्ययन की प्रक्रिया में उद्धरण और विवेचन का पारस्परिक क्रम तीन प्रकार से हो सकता है—१. विवेचन के पश्चात् उद्धरण द्वारा उसकी पुष्टि करके, २. पहले उद्धरण देकर फिर विवेचन द्वारा उसके मर्म का उद्घाटन करके, और ३. थोड़ा विवेचन करके उद्धरण द्वारा उसका समर्थन एवं तदनंतर स्पष्टीकारक विश्लेषण करके। अपेक्षानुसार अनुसंधाता को इन तीन पद्धतियों का व्यवहार करना चाहिए। एकरसता के परिहार के लिए भी, जहाँ जैसा उचित प्रतीत हो, कहीं एक पद्धति का और कहीं दूसरी पद्धति का अनुसरण वांछनीय है।

अन्य अनुसंधाताओं अथवा आलोचकों की उक्तियों के उद्धरण दो दृष्टियों से दिये जाते हैं—अपनी प्रस्थापनाओं के समर्थन के लिए, और दूसरों के अग्राह्य

मतों का निराकरण करके अपनी मान्यताओं के प्रतिपादन के लिए। दूसरों के वाक्यों की दुंदुभी से अपनी प्रस्थापना की आप्तता की घोषणा वैज्ञानिक अनुसंधाता के लिए अनिवार्य नहीं है। श्रोताओं को प्रभावाभिभूत कर देने के लिए मंचारोही वक्ता द्वारा इस प्रकार के हथकंडों का प्रयोग निश्चय ही उपयोगी और फलप्रद सिद्ध होता है। गंभीर अनुसंधाता को सस्ती प्रभावात्मकता से बचना चाहिए। आगमनात्मक विधि से उपलब्ध तथ्यावली ही उसके निष्कर्षों की प्रमाण-संमतता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शोधप्रबंध में महान् अनुशीलकों के उद्धरण का बहिष्कार किया जाए। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि इस प्रकार के उद्धरणों का व्यवहार एक अपेक्षित मर्यादा के अंतर्गत ही करना चाहिए। इस प्रसंग में एक और बात ध्यान देने योग्य है। एक ही बात को एक बार अपने शब्दों में लिखकर फिर उसी को किसी अन्य अध्येता के वाक्यों के उद्धरण से पुष्ट करना समय और शक्ति का अपव्यय है। ऐसी परिस्थिति में श्रेयस्कर यह है कि दूसरे या दूसरों के उद्धरण-वाक्यों को उद्धरण-चिह्न के अंतर्गत इस कौशल के साथ निबद्ध कर दिया जाए कि विचार-शृंखला सुरक्षित रहे, पूर्वापर-सामंजस्य बना रहे, विवेचन के प्रवाह में शिथिलता न आने पाए। दूसरा विकल्प यह है कि वक्तव्य को अपने शब्दों में उपस्थित कर दिया जाए और मूल स्रोत या समर्थक ग्रंथ का पादटिप्पणी में संदर्भ मात्र दे दिया जाए।

अपनी मान्यताओं के प्रतिपादन के लिए प्रतिपक्षी मतों का खंडन शोधप्रबंध की कोई आवश्यक शर्त नहीं है। फिर भी उसकी उपयोगिता है। अनुसंधान का लक्ष्य ज्ञानविस्तार है। ज्ञान के निरूपण के लिए अज्ञान की चर्चा भी आवश्यक मानी गयी है। अतएव अज्ञान के प्रचार को रोकने के लिए भ्रांत धारणाओं का निराकरण भी अनुसंधाता का कर्तव्य है। इस कार्य-संपादन में असंयम के लिए बहुत अवकाश रहता है। अतएव शोधकर्ता को विशेष रूप से जागरूक रहना चाहिए; पंडितम्मन्यता से मुक्त रहकर विनम्र भाव से, शिष्टतापूर्वक, मर्यादित रूप में ही अग्राह्य मतों का दोषोद्घाटन एवं निराकरण करना चाहिए। पूर्ववर्ती लेखकों को मूर्ख, अल्पज्ञ आदि कहने से, उनका उपहास और निरादर करने से, आपके शोधप्रबंध की रत्तीभर भी गौरववृद्धि नहीं होगी। यदि आप स्वयं समादृत होना चाहते हैं तो दूसरों का आदर करना सीखिए। यदि शोधप्रबंध किसी शास्त्रीय विषय पर लिखा जा रहा है तो शास्त्रग्रंथ अध्येतव्य विषय के ही अंतर्गत आएँगे। व्यावहारिक समीक्षा के क्रम में भी कभी-कभी सैद्धांतिक उपस्थापन की अपेक्षा होती है। ऐसे अवसरों पर यह भूलना नहीं चाहिए कि सैद्धांतिक प्रतिपादन व्यावहारिक आलोचना का साधन या सहायक मात्र है, अतएव गौण है। इसलिए, तदनुसार ही उसका संक्षिप्त विवेचन अभीष्ट है। अच्छा यह है कि विवेचन के क्रम में अपने शब्दों में ही सैद्धांतिक निरूपण कर दिया जाए और तत्संबंधी उद्धरण पादटिप्पणी

में दे दिये जाएँ। इससे एक लाभ तो यह है कि प्रबंध की धारावाहिकता अक्षुण्ण बनी रहती है। दूसरा लाभ यह है कि जो पाठक उद्धरणों के बोझ से बचना चाहता है उसे किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती और शास्त्रग्रंथों में रुचि रखने वाले पाठक की भी तुष्टि हो जाती है। नन्हें नन्हें उद्धरण तो ऊपर ही प्रबंध के मुख्य शरीर में बिना किसी व्याघात के ही संनिविष्ट किये जा सकते हैं।

संनिवेश-स्थल की दृष्टि से उद्धरणों के तीन वर्ग किए जा सकते हैं—केंद्रीय, विवेच्य और अविवेच्य। जो उद्धरण संपूर्ण प्रबंध, उसके किसी अध्याय अथवा उसके किसी प्रकरण की केंद्रीय विचारधारा के प्रमापक हैं वे प्रबंध, अध्याय या प्रकरण के बिल्कुल आरंभ में ही दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि 'कामायनी' के अनुसंधाता ने अपने शोधप्रबंध का एक अध्याय रखा है—कामायनी का संदेश। इस अध्याय के बिल्कुल आरंभ में ही कामायनी की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

सब भेद भाव भुलवाकर
दुख सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता। —कामायनी, पृ० २८६

जिन उद्धरणों का विवेचन अनुसंधाता को अभिप्रेत है उनका सन्निवेश प्रबंध के धड़ में ही होना चाहिए। कहा जा चुका है कि इस प्रकार के उद्धरण विवेचन के पूर्व, विवेचन के मध्य में अथवा विवेचन के बाद उदाहरण-रूप में दिये जा सकते हैं। जिन उद्धरणों का विवेचन अभीष्ट नहीं है किंतु विवेचन की पुष्टि के लिए जिनकी आवश्यकता है उन्हें पादटिप्पणी में दे देना चाहिए। इस प्रकार के गौण उद्धरण अध्याय अथवा शोधप्रबंध के अंत में एकत्र दिये जा सकते हैं। इस प्रकार अविवेच्य उद्धरणों के सन्निवेश-स्थल तीन हैं—

१. संपूर्ण शोधप्रबंध के अंत में एक साथ
२. प्रत्येक अध्याय के अंत में एक साथ
३. प्रत्येक पृष्ठ की टिप्पणी में।

पहली दो विधियों के पालन में अनुसंधाता या लेखक को कम परिश्रम करना पड़ता है, टंकन और मुद्रण में काफी सुविधा होती है। लेकिन, पाठक को अधिक असुविधा का सामना करना पड़ता है। अनुसंधाता को परीक्षक और पाठक की सुविधा का विशेष ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक पृष्ठ पर दिये गये उद्धरण से उद्धरणों के दिदृक्षु पाठक को बार-बार पन्ना उलटने की दिक्कत नहीं उठानी पड़ती।

उद्धरण-संबंधी कुछ अन्य बातों पर विचार कर लेना भी अपेक्षित है। यदि अनेक उद्धरण दिये जाएँ तो उनकी क्रमसंख्या १. २. या क. ख. करके दे दी जानी

चाहिए ताकि किसी तरह का गड़वड़झाला न हो जाए। यदि किसी कथन की पुष्टि या निदर्शन में वहुत-से उद्धरण आप को समीचीन प्रतीत होते हैं तो सर्वोत्तम एक या दो-तीन उद्धरण देकर शेष के लिए "और भी देखिए—" लिखकर अन्य उद्धरणीय स्थलों के संदर्भ दे दीजिए। यदि पादटिप्पणी में क्रमशः दिये जाने वाले संदर्भों के वीच में कोई उद्धरण देना है तो उस उद्धरण का संदर्भ देने के वाद कोष्ठ में उद्धरण देकर कोष्ठ वंद कर दीजिए और क्रमानुसार अगले संदर्भ देते जाइए। यदि अध्येतव्य रचना की किसी उक्ति के मूल स्रोत अथवा उसकी समशील उक्ति का उद्धरण देना हो तो जिस वाक्य या शब्द पर पादटिप्पणी दी जा रही है उसके अनुसार ही पहले आलोच्य रचना अथवा उत्तमर्णग्रंथ का उद्धरण दीजिए। स्पष्टीकरण के लिए प्रथम उद्धरण के वाद लिख दीजिए—'मिलाकर देखिए-...' अथवा 'तुलना करके देखिए-...'। विंदुओं के स्थान पर तुलनीय पंक्तियाँ उद्धृत कर दीजिए। यदि किसी उद्धरण पर कोई टिप्पणी देनी है तो उद्धरण के पूर्व या पश्चात् या दोनों ओर औचित्यानुसार दी जा सकती है।

यदि एक साथ ही अनेक उद्धरण देने हों तो उनके क्रम के विषय में तीन विधियाँ हो सकती हैं—१. देश-काल के क्रम से, २. महत्त्व या उपयोगिता के क्रम से, ३. वर्णानुक्रम से। यदि एक ही पुस्तक से अनेक उद्धरण देने हैं तो समीचीन यही है कि उनके स्थान-क्रम का निर्वाह किया जाए। उदाहरणार्थ, यदि 'सूरसागर' के प्रथम, पंचम, और दशम स्कंधों के उद्धरण देने हैं तो इसी क्रम से उनकी निवंधना होनी चाहिए। परंतु यदि अनेक वाक्यों या वाक्यांशों के समर्थन में एक साथ ही अनेक उद्धरण दिये जा रहे हों तो उन वाक्यों या वाक्यांशों के क्रम से उनका निवेश करना चाहिए। अनेक कालों में रची गयी कृतियों के एक साथ उद्धरण देते समय काल-क्रम का ध्यान रखना उचित है। यदि 'ऋग्वेद', 'रघुवंश' और 'रामचंद्रिका' से एक साथ ही उद्धरण देना हो तो इसी क्रम से देना चाहिए। ऐतिहासिक अध्ययन में अथवा किसी साहित्यकार, साहित्यिक प्रवृत्ति या साहित्यिक विधा के विकास के अनुशीलन में तो कालक्रम का ध्यान रखना परमावश्यक है। इस विषय में कठिनाई यह है कि प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य के वहुत-से ग्रंथों का काल-निर्णय संभव नहीं है। आधुनिक युग की वहुत-सी रचनाओं का काल-क्रम निर्धारित करना भी कठिन है। वहुत-सी रचनाएँ ऐसी हैं जो अपने रचनाकाल के वहुत समय वाद प्रकाशित हुई और वाद की रचनाएँ पहले ही प्रकाशित हो गयी थीं। वहुत-सी कृतियों के रचनाकाल और प्रकाशन-काल का व्योरा उपलव्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रकाशन-काल से ही काम चलाना चाहिए। लेकिन ऐसी भी पुस्तकें दृष्टिगोचर होती हैं जिन पर प्रकाशन-काल, संस्करण आदि का कोई उल्लेख नहीं है। यथासंभव उनका पता लगाना चाहिए। असंभव होने पर व्यर्थ मूँड़मारी नहीं करनी चाहिए। हाँ, ग्रंथसूची में इस वात का उल्लेख अवश्य कर

देना चाहिए कि उक्त पुस्तक पर संस्करण या सन्-संवत् नहीं दिया गया है। दूसरी विधि पहले की अपेक्षा सरल है। परंतु उसमें भी एक कठिनाई है। सभी उक्तियों के महत्त्व का निर्विवाद तारतम्य निर्धारित करना सुसाध्य नहीं है। तीसरी विधि सरलतम है। अतः पहली दो विधियों के समुचित पालन में असमर्थ होने पर तीसरी विधि का अनुसरण करना चाहिए। जिस किसी भी विधि का अनुसरण किया जाए, पूरे शोधप्रबंध में उसी का निर्वाह होना चाहिए।

दूसरी भाषाओं से दिये जानेवाले उद्धरणों के विषय में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय हैं—

१. जिन भाषाओं की लिपि देवनागरी नहीं है उनके उद्धरण देवनागरी लिपि में दिये जाने चाहिएँ या उनकी अपनी लिपियों में? बँगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू आदि भाषाओं के उद्धरण देवनागरी लिपि में ही देना उचित है। बहुत-सी चित्र-विचित्र लिपियों का प्रयोग करके हिंदी के शोधप्रबंध को भानुमती का पिटारा बनाना अच्छा नहीं है। अँगरेजी का स्थान कुछ विशिष्ट है और आगामी कई दशाब्दियों तक रहेगा। अतः अँगरेजी के उद्धरण रोमनलिपि में दिये जा सकते हैं। इसका एक दूसरा कारण भी है। देवनागरी लिपि में लिखित भारतीय भाषाओं के उद्धरणों को पढ़ने और समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती है परंतु देवनागरी लिपि में लिखित अंगरेजी के विषय में कठिनाई का अनुभव होता है। भारत में अँगरेजी का युग समाप्त हो जाने पर तो उसके उद्धरणों के लिए भी देवनागरी का ही प्रयोग किया जाएगा। इस समय भी सारे प्रबंध में केवल देवनागरी का व्यवहार करने से टंकन और मुद्रण में सुविधा रहती है।

२. दूसरा प्रश्न है—क्या दूसरी भाषाओं के उद्धरण देते समय उनका हिंदी-अनुवाद भी शोधप्रबंध में दे देना चाहिए। इस प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि शोधप्रबंध अनुवाद-ग्रंथ नहीं है। यदि हिंदीतर भाषाओं के एकाध ही उद्धरण हैं तो अनुवाद दे देने में कोई हर्ज नहीं है। इसके कई रूप हो सकते हैं—

क. अनुवाद प्रबंध के धड़ में और मूल उद्धरण पादटिप्पणी में

ख. मूल उद्धरण प्रबंध के धड़ में और अनुवाद पादटिप्पणी में

ग. मूल उद्धरण और अनुवाद दोनों ही पादटिप्पणी में

घ. मूल उद्धरण और हिंदी-अनुवाद दोनों ही प्रबंध के धड़ में

अंतिम रूप सर्वथा तिरस्कार्य है; क्योंकि उससे प्रबंध के साहित्यिक सौंदर्य और प्रवाह की हानि है। विवेचन के क्रम में एकाध पंक्ति के संक्षिप्त और सुयुक्त उद्धरण का साथ-साथ अनुवाद शिथिलीकारक नहीं होता। किसी भी स्थिति में, अनुवाद वहीं देना चाहिए जहाँ ऐसा करना अत्यावश्यक हो। अनुवाद के द्वारा शोधप्रबंध का कलेवर-वर्धन पुरानी पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं आदि से वस्तु फुला-

कर अपने को 'पढ़नियार' साबित करनेवाले बच्चों का-सा बालिश प्रयास है।

केवल आप्त ग्रंथों से ही उद्धरण देना चाहिए। जिसका वचन प्रमाण है, उसे 'आप्त' कहते हैं। आप्तता सापेक्ष वस्तु है। अनुसंधान के क्षेत्र में आप्त कहलाने के लिए विषय की विशेषज्ञता आवश्यक है। उदाहरण के लिए, दर्शनशास्त्र के विषय में डॉ० राधाकृष्णन् आप्त वक्ता हैं, परंतु निराला-साहित्य के विषय में उन्हें आप्त मानना आप्तता की अतिव्याप्ति है। जिसने जिस विषय का विशेष अध्ययन किया है वही उस विषय में प्रमाण है। शोधप्रबंध के विषय से बादरायण-संबंध रखनेवाले तथाकथित विद्वानों की रचनाओं से उद्धरण देना परीक्षा की दृष्टि से सफलता का साधन तो हो सकता है, किंतु अनुसंधान की दृष्टि से सर्वथा गर्हणीय है। निम्नकोटि की पाठ्य पुस्तकों, परीक्षापयोगी नोटों, प्रश्नोत्तरियों आदि के अंशों को आप्त-रूप में कदापि उद्धृत नहीं करना चाहिए। उद्धरणीय रचनाओं से केवल अपेक्षित अंश उद्धृत करना वांछनीय है। अनावश्यक विस्तार से बचना चाहिए। यदि किसी अवच्छेद का पहला तथा अंतिम वाक्य ही अपेक्षित है और बीच के वाक्य अनपेक्षित हैं तो दोनों वाक्यों के बीच में उन अनपेक्षित वाक्यों के बदले तीन बिंदु दे दीजिए। कुछ लोग बीस-पचीस बिंदु या दस-पंद्रह गुणितचिह्न दे देते हैं। तीन बिंदु काफी है। यदि किसी कविता की एक ही पंक्ति अथवा किसी गद्यखंड के कुछ ही शब्द अनपेक्षित हैं तो पूरा उद्धरण दे देना ही संगत है।

यों तो संपूर्ण शोधप्रबंध में ही अनुसंधाता को शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए परंतु दूसरों की रचनाओं से उद्धरण देते समय विशेष सावधानी अपेक्षित है। उद्धरण का मूल रूप अक्षुण्ण रहना चाहिए। अनुसंधाता को उसके मूल रूप में किसी प्रकार का संशोधन, परिवर्तन या काट-छाँट करने का कोई अधिकार नहीं है। टंकन या मुद्रण की त्रुटियाँ निस्संदेह रूप से उस प्रकार की अशुद्धियाँ होने पर ही संशोधनीय हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी ग्रंथ में 'काव्यशास्त्र' के बदले 'काव्शास्त्र' छप गया है तो यह निश्चित रूप से छापे की भूल है। यदि अनुसंधाता इसे 'काव्यशास्त्र' करके उद्धृत करता है तो कोई दोष नहीं है। यदि इस शब्द को ज्यों का त्यों उद्धृत करता है तो कोष्ठ या पाद-टिप्पणी में शुद्ध शब्द भी दे देना चाहिए। परंतु यदि किसी ग्रंथ में मध्व के दार्शनिक सिद्धांत को द्वैताद्वैतवाद कहा गया है तो निश्चय ही वह टंकन या मुद्रण की भूल नहीं है, वह लेखक के ही अज्ञान का परिणाम है। ऐसी दशा में, अनुसंधाता का कर्तव्य है कि मूल उद्धरण ज्यों का त्यों देकर पादटिप्पणी में उसकी अशुद्धता का मार्जन कर दे। बहुत-सी अशुद्धियाँ ऐसी होती हैं जिनके विषय में यह निश्चय करना कठिन होता है कि वे लेखक की भ्रांति के कारण हुई हैं अथवा मुद्रक के प्रमादवश अथवा दोनों के संयोग से। 'षष्ठम्' (षष्ठ), 'नवम्' (नवम), 'दशम्' (दशम), 'शंकर' (संकर) 'अंतर्साक्ष्य'

कारणों के अन्वेषण में व्यर्थ माथापच्ची क्यों की जाए ? सर्वोत्तम नीति यही है कि अविकल उद्धरण दे दिया जाए और अशुद्ध शब्दों एवं वाक्यों के शुद्ध रूप कोष्ठक या पादटिप्पणी में दिये जाएँ। शुद्धता की रक्षा के संबंध में अनुसंधाता के सामने एक और समस्या है। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त, और अँगरेजी उद्धरणों के लिए अपेक्षित ध्वनिचिह्न टाइपराइटर में नहीं हैं। मराठी के एकाध वर्णों के विषय में भी यही कठिनाई है। ऐसी दशा में क्या किया जाए ? उचित तो यही है कि जैसे भी हो सके कष्ट उठाकर उद्धरणों के मूल रूप की रक्षा की जाए। टंकन में तो अपने परिश्रम के बल पर न्यूनता की पूर्ति की जा सकती है। मुद्रण में इसकी संभावना नहीं है। लाचारी को लाचारी मानकर ही चलना पड़ेगा। आपद्धर्म अधर्म नहीं है।

कभी-कभी अनुसंधाता को अपने शोधप्रबंध में ऐसे अंश भी उद्धृत करने पड़ते हैं जो (अंश) किसी अन्य लेखक द्वारा अपने ग्रंथ में उद्धृत किये गये थे। ऐसी स्थिति में अनुसंधाता को बेईमानी से बचना चाहिए। प्रायः होता यह है कि यदि अनुसंधाता ने किसी पुस्तक में **वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण** या **पुराण** का उद्धरण पढ़ा है तो उसे ज्यों-का-त्यों दे देता है। हमारे यहाँ पुस्तकों में अशुद्धियाँ न होना ही आश्चर्य की बात है। संस्कृत से अनभिज्ञ अनुसंधाता वेद आदि के अशुद्ध रूप में मुद्रित उद्धरणों को और भी अधिक अशुद्ध रूप में उद्धृत करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। श्रम से भागने की यह प्रवृत्ति हेय है। यदि अपनी मौलिकता और पांडित्य के प्रदर्शन के लिए अनुसंधाता पठित पुस्तक का नामोल्लेख अपने शोधप्रबंध में नहीं करना चाहता तो उसे चाहिए कि जो पंक्तियाँ वह अपने शोधप्रबंध में उद्धृत करना चाहता है उन्हें मूल ग्रंथ से मिलाकर देख ले और तदनुसार उनका सही उद्धरण दे। यदि किसी कारण से वह मूल स्रोत का अनुसंधान करने में असमर्थ है तो सच्चाई और ईमानदारी का तकाज़ा यह है कि वह मूल उद्धरण और उसका संदर्भ देने के बाद यह भी लिख दे—अमुक ग्रंथ के अमुक पृष्ठ पर उद्धृत। इससे दो लाभ हैं। एक तो यह कि अनुसंधाता अपने कर्तव्य (सत्यपालन) का निर्वाह करता है। दूसरा यह कि उद्धरण की अशुद्धियों का उत्तरदायित्व उस लेखक पर चला जाता है जिसकी पुस्तक से अनुसंधाता ने उक्त उद्धरण लिया है। यह तो केवल आत्मरक्षा की बात हुई। आदर्श मार्ग यही है कि मूल रचना से मिलान करके ही उसके उद्धरण दिये जाएं, बिना जाँच-पड़ताल किये परार्जित ज्ञानसंपत्ति को आँख मूंदकर न ग्रहण किया जाए।

उद्धरणों के साथ उद्धरणचिह्न (" ") का सार्वत्रिक प्रयोग आवश्यक नहीं है। यदि उद्धरण अवच्छेद के बीच में प्रवाह के अंतर्गत आएं तो उन्हें उद्धरणचिह्न में ही रखना चाहिए। गद्यांश के लिए तो यह चिह्न आवश्यक है। मुद्रित पुस्तक

में पद्य की पंक्ति काले फ़ेस में कर देने से भी काम चल सकता है। यदि उद्धरण अवच्छेद के बाहर अलग से दिये जाएँ और लेखक का संकेत कर दिया जाए तो उद्धरण-चिह्न का प्रयोग अनावश्यक होगा। उद्धरण-चिह्न के व्यवहार का एक-मात्र प्रयोजन पाठक को यह सूचित करना है कि अमुक उक्ति किसी अन्य ग्रंथ की है। यदि बिना उद्धरण-चिह्न के ही यह प्रयोजन निस्संदेह रूप से सिद्ध हो जाता है तो कष्ट करने की कोई जरूरत नहीं है। सभी प्रकार के संदेहों से मुक्त रहने के लिए प्रत्येक उद्धरण को उद्धरण-चिह्न के अंतर्गत रख देना अशोभन है। खास करके पाद-टिप्पणी में उद्धृत कविताओं को उद्धरण-चिह्न के अंतर्गत रखना तो और भी हास्यास्पद है। पद्य के उद्धरण देते समय उसके चरणों का ध्यान रखना आवश्यक है। अतुकांत या स्वच्छंद छंदों के उद्धरणों में भी पंक्ति का ध्यान रखना चाहिए। स्थान की न्यूनता होने पर, विषम परिस्थितियों में, दोहे का एक पंक्ति में, अथवा 'आँसू' की चार पंक्तियों का दो पंक्तियों में उद्धरण किसी भी प्रकार भ्रांतिकारक नहीं है। फिर भी यथासंभव मूल ग्रंथ की शैली का ही निर्वाह करना चाहिए।

अवच्छेद के बीच में धारावाहिक रूप से आने वाली पद्य-पंक्ति को गद्य-वाक्य से अविच्छिन्न रखना ही उत्तम है। उसे अलग पंक्ति में उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। वैसा करने से प्रवाह में शिथिलता आ जाएगी। हाँ, ऐसी पंक्ति को टंकित प्रति में रेखांकित कर देना चाहिए और मुद्रण के समय काले फ़ेस में छपाना चाहिए। अत्यावश्यक होने पर एक ही पद्य, पंक्ति या वाक्य का उद्धरण एक से अधिक बार दिया जा सकता है। विभिन्न अध्यायों में या एक ही अध्याय के विभिन्न प्रकरणों में विवेचन की सुविधा एवं विषय के स्पष्ट प्रतिपादन के लिए इस प्रकार की आवश्यक पुनरावृत्ति अवांछनीय नहीं है। मामूली आवश्यकता होने पर उसका तात्पर्य बतला करके संदर्भ का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त है। जहाँ अतिशय विख्यात उक्तियों के आशय का कथन तो अपेक्षित है, किंतु उक्तियों का उद्धरण या संदर्भ अनपेक्षित है, वहाँ व्यर्थ ही उद्धरण देने का कष्ट नहीं उठाना चाहिए।

षष्ठ प्रकरण

संदर्भोल्लेख

अनुसंधान के स्वरूप का विवेचन करते हुए यह सिद्धांत बल देकर प्रतिपादित किया जा चुका है कि संदर्भोल्लेख अनुसंधान का आवश्यक धर्म है। शोधप्रबंध के प्रणेता को यह प्रतिज्ञा सदैव ध्यान में रखनी चाहिए—**नामूलं लिख्यते किंचित्।** संदर्भोल्लेख का प्रयोजन है—शोधप्रबंध के प्रतिपाद्य विषय को आप्त या प्रामाणिक रूप में उपस्थापित करना। जिस शोधप्रबंध में संदर्भों का उचित उल्लेख नहीं होता उसे प्रबुद्ध और बुद्धिवादी पाठक लेखक का स्वैर कल्पनाविलास समझता है। संदर्भोल्लेख शोधप्रबंध को अनाप-शनाप गप्पबाजी से बचाकर उसे पाठकों की दृष्टि में विश्वसनीय बनाता है। यह पहले कहा जा चुका है कि अनुसंधाता के कर्तव्य की इतिश्री केवल ज्ञानार्जन में नहीं है। शोधकर्ता ज्ञानसंपत्ति का संचय करके उसके द्वारा ज्ञान-विस्तार भी करता है; वह अपनी ज्ञान-संपत्ति का इस ढंग से उपस्थापन करता है जिससे आगामी अनुसंधाताओं का मार्ग प्रशस्त हो सके। प्रशस्तीकरण के लिए संदर्भोल्लेख नितांत आवश्यक है। कभी-कभी अनुसंधाता को स्वयं ही अपनी बात की प्रामाणिकता में संदेह होने लगता है। यदि उसने संदर्भ नहीं दिया है तो अपने कथन की प्रामाणिकता की जाँच करने का कोई भी उपाय उसके पास नहीं है।

संदर्भ किसका दिया जाना चाहिए?

१. प्रत्येक उद्धरण का संदर्भ देना अनिवार्य है। यदि कोई उद्धरण अनेक बार दिया गया हो तो पहली बार उसका संदर्भोल्लेख आवश्यक है। यदि लेखक आवश्यकता समझे तो दुबारा भी संदर्भ दे दे। इस आवश्यकता की कसौटी क्या है? शोधप्रबंध पाठक के पढ़ने के लिए है। अतएव लेखक को उसकी सुविधा का उचित ध्यान रखना चाहिए। यदि कोई उद्धरण कुछ ही दूर पहले दिया गया है तो उसका दुबारा संदर्भोल्लेख अपेक्षित नहीं है। परंतु यदि कोई महत्त्वपूर्ण उद्धरण इतनी दूर पहले दिया गया है कि उसके विस्मृत हो जाने की संभावना है तो उसका पुनः संदर्भोल्लेख कर देना ही हितकर है। २. दूसरों की उक्तियों के सारांश या मतों का उल्लेख करते हुए उनका भी संदर्भ दे देना चाहिए। ३. अपनी अन्य कृतियों

एवं संपद्यमान प्रस्तुत शोधप्रबंध के पूर्ववर्ती अध्यायों में दिये गये स्वकीय कथनों का संदर्भोल्लेख भी विशिष्ट स्थिति में वांछनीय है। ४. विवेचन-विश्लेषण करते समय विवेच्य मूलग्रंथों से उद्धरण देने की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणों का संदर्भ तो निश्चय ही दिया जाना चाहिए। परंतु जहाँ उद्धरण देना आवश्यक नहीं है वहाँ अपने कथन की प्रामाणिकता के लिए उदाहरणीयं अंशों का केवल संदर्भोल्लेख कर देना चाहिए। जहाँ बहुत-सी उक्तियाँ उदाहरणीय जँच रही हों वहाँ उपयुक्ततर उक्तियाँ उद्धृत करके शेष का संदर्भोल्लेख द्वारा संकेत कर देना अभिप्रेय है।

निवेश-स्थल की दृष्टि से संदर्भोल्लेख की चार विधियाँ हो सकती हैं—

१. संपूर्ण प्रबंध के संदर्भ प्रबंध के अंत में एक साथ ही क्रमानुसार दे दिये जाएँ। इस विधि में सुविधा यह है कि दुबारा लिखते समय, टंकित करते या छपाते समय संदर्भ-संख्या में उलट-फेर करने का परिश्रम नहीं करना पड़ता। टंकन और मुद्रण में विशेष सुविधा रहती है। सारी सामग्री धारावाहिक रूप से टंकित और मुद्रित होती रहती है। परंतु, यह विधि तभी व्यवहार्य है जब संदर्भों की संख्या अधिक न हो। दो अंकों की संख्या तो ठीक जँचती है। यदि कुल संदर्भ ९९ के अंदर हैं तो प्रबंध के क्रम में पड़ी हुई संदर्भ-संख्याएँ अच्छी ही लगेगीं। १०० से लेकर ९९९ तक की तीन अंकों वाली संख्याएँ प्रबंधांतर्गत शब्दों के कोने पर भद्दी लगती हैं। और यदि संख्याएँ चार अंकों वाली हो गयीं तो और भी भद्दी लगेंगी। अतएव अधिक संदर्भ वाले शोधप्रबंध में इस विधि का अवलम्बन श्रेय नहीं है। इसके विषय में एक-दूसरा तर्क भी दिया जा सकता है। प्रबंध पढ़ने वाले अनुसंधित्सु को बार-बार पन्ना उलटकर अभीप्सित संदर्भ देखने पड़ेंगे। अपनी सुविधा के लिए पाठकों को असुविधा में डालना उचित नहीं है।

२. दूसरी विधि यह हो सकती है कि प्रत्येक अध्याय के अंत में उस अध्याय के सारे संदर्भ एक साथ ही क्रमानुसार दे दिये जाएँ। अथवा, प्रबंध के अंत में सभी अध्यायों के संदर्भ अध्यायानुसार एकत्र दे दिये जाएँ। पहली विधि के पक्ष-विपक्ष में दिये गये तर्क किसी सीमा तक इस विधि के विषय में भी चरितार्थ होते हैं। एक बात और है—दो अध्यायों के बीच में संदर्भोल्लेख पेबंद-जैसा लगता है।

३. तीसरी विधि यह हो सकती है कि प्रत्येक संदर्भ प्रबंध के धड़ में ही यथास्थान दे दिया जाया करे—अलग से दिये गये उद्धरणों का संदर्भ उद्धरणविशेष के सामने या नीचे, और अवच्छेद के अंतर्गत संदर्भणीय स्थल का संदर्भ उसके साथ कोष्ठक में। यह विधि सबसे कम क्लेशकारक है। संदर्भों की संख्या लिखने एवं उनका क्रम निर्धारित करने का झंझट इसमें बिल्कुल नहीं करना पड़ता। परंतु, इस विधि का कृष्णपक्ष भी है। साहित्यिक शोधप्रबंध में शैली की रमणीयता का भी ध्यान रखना पड़ता है। बीच-बीच में स्थान-स्थान पर दिये गये संदर्भ प्रबंध के प्रसन्न

प्रवाह में बाधक होते हैं। पाठकविशेष को अरुचिकर न होने पर भी उसकी दृष्टि को बरबस उलझा रखते हैं। सामान्य साहित्यिक पाठक की दृष्टि में संदर्भों की कोई उपयोगिता नहीं है। ऐसे पाठक को व्यर्थ ही क्यों परेशान किया जाए ?

४. संदर्भोल्लेख की चौथी विधि यह है कि प्रत्येक पृष्ठ पर पाद-टिप्पणी में ही उस पृष्ठ की वस्तु से संबंध रखनेवाले संदर्भ दे दिये जाएँ। यह पद्धति सर्वाधिक क्लेशकारिणी भी है। दुबारा लिखते समय, टंकन के समय, मुद्रण के समय और परवर्ती संशोधित संस्करणों के पुनमुद्रण के अवसर पर भी संदर्भों की शुद्धता बनाये रखने लिए लेखक को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। अतिश्रमसाध्य होने पर भी यह विधि सर्वोत्तम है। संदर्भ देखने के अभिलाषी पाठक को बार-बार पन्ना उलटकर देखने और फिर जहाँ तक कि पढ़ लिया था उसके आगे की श्रृंखला मिलाने का कष्टसाध्य अध्यवसाय नहीं करना पड़ता। और दूसरी ओर, संदर्भ के प्रति सर्वथा उदासीन सामान्य साहित्यिक पाठक की सुकुमार दृष्टि संदर्भ की कँटीली झाड़ी में उलझने से बची रहती है।

संदर्भोल्लेख के चार रूप हो सकते हैं—

१. सांकेतिक, यथा—रा०।३।१६।१

२. अर्धसांकेतिक, यथा—रामचरितमानस, ३।१६।१

३. विस्तृत, यथा—रामचरितमानस, तीसरा सोपान, सोलहवाँ दोहा, पहली चौपाई।

४. अतिविस्तृत—उक्त तृतीय रूप के साथ ही ग्रंथ के लेखक, संपादक, संस्करण, प्रकाशक और प्रकाशन-काल का भी उल्लेख।

उपर्युक्त चार रूपों में से चौथा (अतिविस्तृत) रूप सर्वथा परित्याज्य है। लेखक, संपादक, संस्करण आदि का उल्लेख ग्रंथ-सूची में ही करना चाहिए। बार-बार संदर्भ देते समय उनका उल्लेख करना व्यर्थ है। यदि किसी ग्रंथ का एक ही बार संदर्भ दिया जा रहा हो तो भी संदर्भ में संस्करण आदि का उल्लेख अनावश्यक है। इसके दो कारण हैं—१. एकरूपता की दृष्टि से एक ही पद्धति अपनायी जानी चाहिए और २. जब ग्रंथसूची में संस्करण आदि का विस्तृत विवरण देना ही है तब फिर बिना जरूरत दो बार परिश्रम क्यों किया जाए ?

कभी-कभी लोग ऐसा भी करते हैं कि जब किसी ग्रंथ का संदर्भोल्लेख पहली बार किया जाता है तब उसके संस्करण आदि का उल्लेख भी कर देते हैं और बाद के स्थलों पर केवल संदर्भ देते हैं। इसके विषय में भी वही आपत्ति है—दो बार अनावश्यक परिश्रम क्यों ? इस सामान्य सिद्धांत का अपवाद भी है। मान लीजिए कि आपने शोधप्रबंध में 'मानसपीयूष' के प्रथम संस्करण का उपयोग किया और उसके संदर्भो का यथास्थान उल्लेख किया। कुछ समय बाद आपको फिर 'मानस-पीयूष' के संदर्भोल्लेख की आवश्यकता हुई। पहला संस्करण नहीं मिला। आपने

गीताप्रेस से प्रकाशित (तीसरे) संस्करण का उपयोग किया। ऐसी दशा में आपको चाहिए कि जहाँ-जहाँ इस संस्करण का संदर्भोल्लेख हुआ है वहाँ-वहाँ उसका संकेत कर दें और उसका पूर्ण विवरण संकेताक्षर-सूची एवं ग्रंथ-सूची में दे दें। इसी से मिलती-जुलती एक और परिस्थिति भी है। मान लीजिए कि आपने किसी अप्रकाशित शोधप्रबंध का अध्ययन करके अपने प्रबंध में उसका संदर्भोल्लेख किया है। इसी बीच वह प्रबंध प्रकाशित हो गया। आपको उससे भी उद्धरण या संदर्भमात्र देने की आवश्यकता पड़ गयी। इस दशा में भी उसके प्रकाशित संस्करण का संकेत कर देना आवश्यक है।

इसी प्रसंग में एक-दूसरी समस्या पर भी विचार कर लिया जाए। मान लीजिए कि आपने अपने प्रबंध में किसी अप्रकाशित ग्रंथ के संदर्भ दिये हैं। आपने परीक्षा के लिए अपना प्रबंध अभी दाखिल नहीं किया है। इसी बीच पूर्वोक्त ग्रंथ प्रकाशित हो गया। अब आप क्या करें? यदि आपका प्रबंध टंकित नहीं हुआ है तो प्रकाशित संस्करण के अनुसार संदर्भों में संशोधन कर लें। यदि आपका प्रबंध टंकित हो चुका है तो उसे जाने दीजिये। लेकिन ग्रंथसूची में यह नोट अवश्य दे दीजिए कि उक्त ग्रंथ अमुक रूप से प्रकाशित हो चुका है। यथासंभव प्राक्कथन में इस बात का स्पष्टीकरण कर दीजिए कि शोधप्रबंध के पूर्ण हो जाने पर अमुक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है, प्रबंध के प्रकाशन के समय उसका भी उपयोग कर लिया जाएगा। यही सरणि किसी ग्रंथ के नवीन संस्करण के विषय में भी अनुसरणीय है।

संदर्भोल्लेख का पूर्वोक्त तीसरा (विस्तृत) रूप तभी व्यवहार्य है जब किसी ग्रंथ का कुछ ही बार संदर्भोल्लेख किया गया हो। पुनः-पुनः संदर्भोल्लेख की स्थिति में उसके प्रथम दो (सांकेतिक अथवा अर्धसांकेतिक) रूप ही विशेष ग्राह्य हैं। जिन ग्रंथों के संदर्भ बार-बार आ रहे हों और जो प्रसिद्ध हों उन्हीं का संदर्भोल्लेख सांकेतिक रूप में करना चाहिए। प्रबंध के आरंभ में ही संकेताक्षरों की सूची देकर यह स्पष्ट बतला देना चाहिए कि वे संकेताक्षर किन पूर्ण नामों के संकेत हैं।

यों तो सारे शोधप्रबंध में ही अनुसंधाता को सावधान रहने की आवश्यकता है लेकिन संदर्भोल्लेख के संबंध में विशेष सावधानी अपेक्षित है। संख्याओं के विषय में और भी मनोनिवेश की जरूरत है। जरा-सी असावधानी से भयंकर अनर्थ हो जाने की संभावना रहती है। यहाँ पर हिंदी-अनुसंधाताओं का ध्यान एक और अवेक्षणीय तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। हिंदी के अनुसंधाता कभी-कभी 'मण्डल', 'अध्याय', 'सर्ग', 'परिच्छेद', 'सूक्त', 'मंत्र', 'सूत्र', 'कारिका', 'श्लोक' आदि की यथार्थता या तथ्यता का ध्यान नहीं रखते। मूल ग्रंथ को देखकर उसमें अपनाये गये विभाजन आदि के अनुसार ही उसका संदर्भ देना चाहिए। यदि संस्कृत आदि का ज्ञान न हो तो किसी अधिकारी व्यक्ति से सहायता लेकर कार्य-संपादन करना चाहिए।

इस मायामय संसार में चोरी के माल से भी काफी व्यापार होता है। परंतु, अनुसंधान की ज्ञानभूमि पर चोरी और बेईमानी का सौदा अत्यंत विगर्हणीय है। कुछ लोगों के मन में इस भ्रांत धारणा ने घर कर लिया है कि शोधप्रबंध में सर्वथा ईमानदारी बरतने से मौलिकता की धज्जियाँ उड़ जाएँगी; दूसरों का ऋण स्वीकारने का दुष्परिणाम यह होगा कि शोधप्रबंध के स्वीकृत होने में कठिनाई होगी और यदि स्वीकृत भी हो गया तो प्रकाशित होने पर उसका गौरव घट जाएगा। उत्तर में निवेदन है कि दूसरों के धन से साहुगीरी करने का ढोंग बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। प्रबंध के विषय से अनभिज्ञ परीक्षकों का अज्ञान संपूर्ण विश्व को आच्छन्न नहीं कर सकता। एक दिन भंडाफोड़ होकर ही रहेगा। यदि प्रबंध प्रकाशित नहीं हुआ तो भी किसी विशेषज्ञ अनुसंधाता की अन्वेषक-दृष्टि तो उस पर किसी दिन पड़ ही सकती है (यदि उसकी सारी प्रतियाँ गायब न कर दी गयीं तो)। लेकिन इस विवाद को छोड़िए। नयी बात सोचना और कहना ही मौलिकता नहीं है, नये ढंग से सोचना और कहना भी मौलिकता है। दृष्टिकोण और उपस्थापन-शैली की नवीनता निम्नकोटि की मौलिकता नहीं है। अनुसंधान ज्ञान का प्रसार करता है। उसके द्वारा अज्ञान का प्रसार नहीं होना चाहिए। यदि 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' पढ़ते समय आप उस ग्रंथ में से वल्लभ-साहित्य का संदर्भोल्लेख करना चाहते हैं तो मूल ग्रंथ को देखकर उसकी तथ्यता की जाँच कर लीजिए। यदि अपेक्षित ग्रंथों के अभीष्ट संस्करण अलभ्य हैं और अपने शोधप्रबंध में उनके संदर्भ देना जरूरी है तो संदर्भ देने के बाद नीचे यह भी लिख दीजिए—"देखिए—अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, पृ०···"। ऐसा करने से आप अपनी ईमानदारी का निर्वाह करते हैं, गलतियों के उत्तरदायित्व से बच जाते हैं, अनुसंधान की प्रयोजन-सिद्धि (ज्ञान के प्रसार और अज्ञान के निरोध) में सहायक होते हैं। और इनसे भी महनीय बात यह है कि पूर्ववर्ती अनुसंधाता को उसकी उपलब्धियों का श्रेय मिलना चाहिए। आप उसे उसका प्राप्य श्रेय देकर उसे ही नहीं अपने को भी गौरवान्वित करते हैं।

संदर्भोल्लेख में वैज्ञानिकता और एकरूपता का निर्वाह करना चाहिए। 'कामायनी' से संदर्भ देते समय कहीं 'का०' और कहीं 'कामायनी' लिखना अच्छा नहीं है। इसी प्रकार अध्यायों, पृष्ठों, पद्यों आदि के विषय में भी समझना चाहिए। आप इस बात पर पहले ही विचार कर लीजिए, कि 'रामचरितमानस' के लिए पूरे शब्द का व्यवहार करेंगे अथवा रा० मा० का या रा० का। आरंभ में निश्चय कर लीजिए कि 'रामचरितमानस' के सोपान, दोहा तथा चौपाई अथवा भागवतपुराण के स्कंध, अध्याय और श्लोक के लिए पूरे शब्द देंगे या संकेत। गद्यग्रंथों का संदर्भ देते समय प्रायः पृष्ठ-संख्या का ही उल्लेख करना पड़ता है। यदि किसी ग्रंथ का आद्योपांत विभाजन अनुच्छेदों में किया गया है और उन अनुच्छेदों की क्रमसंख्या

दी हुई है (उदाहरणार्थ—डा० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास') तो अनुच्छेद-संख्या के द्वारा उसका संदर्भोल्लेख किया जा सकता है। पद्यग्रंथों की स्थिति कुछ भिन्न है। जिन काव्यों के खंडों (पदमावत), स्कंधों (सूरसागर), कांडों (गीतावली), प्रकाशों (रामचंद्रिका) आदि के अंतर्गत पद्यों की क्रमसंख्या दी हुई है उनके संदर्भोल्लेख का मार्ग अपेक्षाकृत सरल है। संख्या के अनुसार संदर्भ दे दीजिए। जहाँ दो प्रकार की संख्याएँ हैं, वहाँ संदेह उठ सकता है—जैसे पदमावत, (सं०डा० वासुदेवशरण अग्रवाल) में। मान लीजिए कि उसकी निम्नांकित पंक्ति का संदर्भ देना है—

मानुस पेम भएउ वैकुंठी। नाहिं त काह छार एक मूंठी॥

एक संदर्भ इस प्रकार होगा—पदमावत, १७।२।२—इसका अर्थ होगा—'पदमावत' के सत्रहवें खंड (मंडपगमनखंड) के दूसरे दोहे (के ऊपर) की दूसरी पंक्ति। [यहाँ यह भी वतला देना जरूरी है कि 'पदमावत' के उर्युक्त प्रथम संस्करण में १७।२ के वदले १६।६ छपा हुआ है। अनुसंधाता को संशोधन करके ठीक संदर्भ ही देना चाहिए।] उक्त पंक्ति का दूसरा संदर्भोल्लेख इस प्रकार हो सकता है—पदमावत, १६६।२। इसका अर्थ होगा—'पदमावत' के १६६ वें दोहे (के ऊपर) की दूसरी पंक्ति। दोनों ही रूप न्यायसंगत हैं।

कामायनी, साकेत आदि के संदर्भोल्लेख में थोड़ी कठिनाई है। यदि उनके प्रत्येक सर्ग के पद्यों की अथवा प्रत्येक पृष्ठ की पंक्तियों की क्रमसंख्या दी हुई होती तो कोई दिक्कत नहीं थी। मान लीजिए कि आपको 'कामायनी' की अधोलिखित पंक्ति का संदर्भ देना है—

समरसता है संवंध वनी अधिकार और अधिकारी की।

संदर्भोल्लेख का एक रूप होगा—**कामायनी, पृ० १६२**। उसका दूसरा रूप होगा—**कामायनी, इड़ा, पृ० १६२**। दूसरे रूप में 'इड़ा' का अधिकोल्लेख हुआ है। वह आवश्यक नहीं था। यह भी निर्विवाद है कि पृष्ठसंख्या १६२ 'कामायनी' की ही है, 'इड़ा' सर्ग की नहीं। फिर भी 'इड़ा' सर्ग का उल्लेख दोप नहीं कहलाएगा, क्योंकि उसके उल्लेख से उल्लिखित पंक्ति का पूर्वापर-संवंध मिलाने में पाठक को सहायता मिल सकती है। यदि आप केवल 'कामायनी' पर ही शोधप्रवंध लिख रहे हैं तो आदर्श विधि यह होगी कि आप उसके प्रत्येक पृष्ठ की पंक्तियों पर क्रम-संख्या डाल लीजिए। उपर्युक्त पंक्ति का संदर्भ इस प्रकार दीजिए—कामायनी, १६२।७ (अर्थात् १६२ वें पृष्ठ की ७ वीं पंक्ति]। संपूर्ण आधुनिक काव्य पर आश्रित या इस प्रकार के किसी अन्य व्यापक विषय पर प्रवंध लिखने वाले अनुसंधाता के लिए इस प्रकार की विधि व्यवहार्य नहीं है। उसे तो पृष्ठ-संख्या देकर ही काम चलाना चाहिए।

पाठक की सुविधा और समय की वचत की दृष्टि से परिस्थितिविशेष में

कभी-कभी दोहरा संदर्भ भी दे देना चाहिए। उदाहरण के लिए **मानसपीयूष** को लीजिए। 'रामचरितमानस' के अनेक दोहों और चौपाइयों का व्याख्यान पीयूषकार ने कई पृष्ठों में किया है। यदि उस विस्तृत व्याख्यान के किसी अंश का संदर्भ आपको देना है तो 'रामचरितमानस' के सोपान, दोहा और चौपाई की संख्या के उल्लेख के साथ 'मानसपीयूष' के पृष्ठ की संख्या का भी उल्लेख कर दीजिए। पृष्ठ-संख्या का उल्लेख इसलिए अभीप्सित है कि उससे पाठक को अभीष्ट अंश देखने के लिए कई पृष्ठों की छानबीन का आयास नहीं करना पड़ेगा। सोपान आदि के उल्लेख की अपेक्षा इसलिए है कि 'मानसपीयूष' के किसी अन्य संस्करण का पाठक भी उससे लाभान्वित हो सकता है।

बहुत बार एक ही पादटिप्पणी में अनेक ग्रंथों के संदर्भ देने पड़ते हैं। उन ग्रंथों के क्रम के विषय में पहले मत निर्धारित कर लीजिए और फिर पूरे प्रबंध में उसका पालन कीजिए। उद्धरणों की भाँति इसके भी तीन रूप हो सकते हैं—१. देश-काल के अनुसार, २. महत्त्व या उपयोगिता के अनुसार और ३. वर्णानुक्रम से। प्रतिपाद्य विषय के अनुसार प्रथम दो रूप ही अधिक श्रेयस्कर हैं। परंतु, प्रत्येक परिस्थिति में ग्रंथों के देश-काल और महत्त्व का निर्धारण संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में उनका उल्लेख वर्णानुक्रम से करना चाहिए। कहीं पर कोई एक क्रम, कहीं पर कोई दूसरा क्रम—इस प्रकार की क्रमहीनता शोधप्रबंध की गंभीरता के विरुद्ध है।

कभी-कभी एक ही संदर्भ का अनेक बार उल्लेख करना पड़ता है। यह उल्लेख कभी तो आवश्यक होता है, कभी अनावश्यक। आवश्यक होने पर इसका उल्लेख दो प्रकार से किया जा सकता है—१. शोधप्रबंध में मूल ग्रंथ का जो संदर्भोल्लेख किया गया है उसी का उल्लेख दुबारा कर दिया जाए, २. अपने शोधप्रबंध के ही उस स्थल का संदर्भ दे दिया जाए जहाँ पर मूल ग्रंथ का संदर्भोल्लेख किया गया है। यदि दुबारा संदर्भोल्लेख आवश्यक नहीं है किंतु उस संदर्भ के आधार पर निरूपित वस्तु का हवाला देना वांछनीय है तो—'जैसा कि पहले अध्याय में प्रतिपादित किया जा चुका है....' इस प्रकार उल्लेख करते हुए आगे बढ़िए।

शोधप्रबंध में उल्लेखनीय बहुत-से ग्रंथ ऐसे हैं जिनका नामोल्लेख दो प्रकार से किया जा सकता है। उदाहरण के लिए—'ब्रह्मसूत्र' पर **रामानुज-भाष्य**। इसका नाम **श्रीभाष्य** भी है। अच्छा तो यह है कि सारे प्रबंध में एक ही नाम का व्यवहार किया जाए। परंतु यदि किसी कारणवश दोनों नामों का व्यवहार कर दिया गया हो तो ग्रंथ-सूची में दोनों नामों के ऐक्य का संकेत अवश्य कर देना चाहिए। इससे सामान्य पाठकों को किसी प्रकार का व्यामोह नहीं होगा। शास्त्रज्ञ जन तो इससे अभिज्ञ होते ही हैं।

संस्कृत-ग्रंथों के नामोल्लेख के संबंध में एक प्रश्न यह उठता है कि—**मेघदूतम्**

लिखा जाए या मेघदूत, अभिज्ञानशकुन्तलम् लिखा जाए या अभिज्ञानशकुन्तल
संस्कृत में तो नपुंसकलिंग में 'मेघदूतम्' आदि लिखना ही योग्य है। लेकिन हि
के शोधप्रबंध में संस्कृत-रूप के प्रति बहुत अधिक आग्रह वांछनीय नहीं है। अत
मेरे विचार से 'मेघदूत' आदि लिखना ही अधिक उपयुक्त है। अधिक कल्या
कारी होने के कारण, ग्रहीतव्य है। लोक-परंपरा और जीवन की वास्तविक
की अवहेलना करके कोरी शास्त्रीयता का अंधबंधन स्वीकारना कथमपि श्रेयस्
नहीं है। किंतु, यदि किसी ग्रंथ का कोई अंश किसी परीक्षा के पाठ्यक्रम में नि
रित होने के कारण अलग से छपा है, तो उससे संदर्भ न देकर संपूर्ण ग्रंथ (य
उपलम्य है तो) के प्रामाणिक संस्करण का ही उपयोग कीजिए।

शोधप्रबंधों में 'वही' लिखने या 'वही' का चिह्न (,,) दे देने की प्रवृत्ति
प्राय: देखी जाती है। उदाहरणार्थ—

यामा, पृ० २५	यामा, पृ० २५
वही, पृ० ८०	,, पृ० ८०
वही	,, ,,

कभी-कभी तो ऐसा हो जाता है कि टंकित या मुद्रित ग्रंथ में उल्लिखित पुस्त
का नाम तो पिछले पृष्ठ पर होता है और 'वही' या 'वही' का चिह्न (,,) अग
पृष्ठ पर। यह भद्दापन विक्षोभकारी है। पाठक को पन्ना उलट कर देखना पड़ता
कि यह 'वही' किसके लिए प्रयुक्त हुआ है। इसलिए मेरा सुझाव है कि यह रोग पा
ही न जाए। प्रत्येक संदर्भोल्लेख (सांकेतिक रूप में ही सही) अपने में पूर्ण हो
चाहिए। मान लीजिए कि आपने ऊपर एक वाक्य लिखा है—"तुलसीदास ने 'रा
चरितमानस' में शंकर के मुख से प्रतिपादित किया है कि निर्गुण और सगुण
कोई भेद नहीं है—अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा।" और पाद-टिप्पणी में इस
संदर्भोल्लेख करना है। ऐसी स्थिति में भी पूरा ही संदर्भ दीजिए—रा० १।११६।१
"वही, १।११६।१" अथवा केवल "१।११६।१" मत लिखिए। संदेह के लिए अ
काश ही मत छोड़िए। व्यवस्थित क्रम का निर्वाह कीजिए।

हिंदी-शोधप्रबंधों में अपूर्ण संदर्भ देने का राजरोग अत्यंत व्यापक है। जैसे-

(१) सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।—तुलसी
(२) सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।—रामचरितमानस
(३) सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।—रामचरितमानस, बालकांड
(४) सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। —रामचरितमानस, बालकांड, ११

उपर्युक्त सभी संदर्भोल्लेख अधूरे हैं। उनकी अपूर्णता क्रमश: कम होती ग
है। सांकेतिक रूप में पूर्ण संदर्भ होना चाहिए—रा० १।११६।१

व्यावहारिक दृष्टि से इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि 'रा
'१', '११६' और '१' के बाद कहाँ किस विराम-चिह्न का प्रयोग करना चाहिए

०' के बाद किसी विराम-चिह्न की आवश्यकता नहीं है। यदि 'रामचरित-
ास' लिखा जाए तो उसके बाद अल्पविराम (,) लगा देना अच्छा है। '१।११६।१
ने के तीन अन्य रूप भी हैं—

१–११६–१ १,११६,१ १ . ११६ . १

ये तीनों ही रूप अग्राह्य हैं। क्रमशः विचार कीजिए। यदि आप उक्त दोहे
पहली से लेकर चौथी चौपाई तक का संदर्भ देना चाहते हैं तो संयोजक या
शक-चिह्न लगाने से गड़बड़झाला हो जाने की संभावना है। रा० १।११६।१-४
स प्रकार का कोई भय नहीं है। यदि एक ही पादटिप्पणी में कई संदर्भ देने हैं
दूसरा रूप गड़बड़ी पैदा कर सकता है। रा० १।११६।२, २।६२।४ में इस
ार की गड़बड़ी की गुंजाइश नहीं है। तीसरा रूप मुद्रण में तो कोई विशेष
ठनाई नहीं उपस्थित करता परंतु टंकन में कर सकता है। दूसरी बात यह है कि
टिप्पणी की संख्याओं के साथ बिंदु (फ़ुलस्टॉप) लगाना (जैसे—१. २. ३.)
अधिक सुंदर है। अतएव भेदकता की दृष्टि से संदर्भ-सूचक संख्याओं के साथ
(।) लगाना ही अधिक समीचीन है। संदर्भोल्लेख के बिल्कुल अंत में कोई
विराम-चिह्न लगाने की जरूरत नहीं है।

यदि एक ही नाम की दो पुस्तकें हैं और उनके लेखक दो भिन्न व्यक्ति हैं तो
का संदर्भोल्लेख करते समय पुस्तक के सामने कोष्ठ में लेखक के नाम का भी
त कर दीजिए जिससे किसी तरह का भ्रम न उत्पन्न हो। उदाहरण के लिए,
रतीय दर्शन' नाम की दो पुस्तकें हैं। एक के लेखक पं० बलदेव उपाध्याय हैं
दूसरी के डा० उमेश मिश्र। अतएव पुस्तक के साथ लेखक का नाम अवश्य
ख्य है। यदि एक ही लेखक के किसी ग्रंथ का संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित
है (जैसे—डा० माताप्रसाद गुप्त के 'तुलसीदास' का या प्रेमचंद के 'गोदान'
तो यथासंभव संक्षिप्त संस्करण का उपयोग न करके पूर्ण संस्करण का ही
र्भोल्लेख कीजिए।

एकाध आलोचनावादी आचार्य उत्तम शोधप्रबंध को भी, प्रचुर संदर्भोल्लेख
ारण, डॉक्टरेट के अयोग्य बतलाते हैं। विद्वान् परीक्षक उक्त पद्धति की विकल्प-
त संस्तुति करते हैं। वस्तुतः, उद्धरण और संदर्भोल्लेख की न्यूनाधिकता का
य शोधप्रबंध के विषय पर निर्भर है। अनुसंधाता को अपनी बुद्धि से और
क्षक के आदेशानुसार इसका निश्चय करना चाहिए।

सप्तम प्रकरण

अनुबंध-योजना

यहाँ पर मैं 'अनुबंध' शब्द का प्रयोग परंपरागत शास्त्रीय अर्थ में न करके उसके साधारण अर्थ में कर रहा हूँ। शोधप्रबंध समाप्त कर लेने पर अनुसंधाता को उसके पूर्व और पश्चात् भी कुछ लिखना पड़ता है। इस प्रकार प्रबंध के आदि और अंत में निबद्ध वस्तु 'अनुबंध' है। तदनुसार इसके दो रूप हैं—पूर्वानुबंध और पश्चानुबंध।

पूर्वानुबंध

प्रबंध के आरंभ में लिखितव्य वस्तु 'पूर्वानुबंध' है। इसके तीन अंग हो सकते हैं—

१. प्राक्कथन, २. विषय-सूची, और ३. संकेत-सूची।

प्रथम दो की योजना प्रत्येक शोधप्रबंध में अनिवार्य है। तीसरी का निबंधन अपेक्षानुसार वैकल्पिक हो सकता है।

प्राक्कथन

शोधप्रबंध के आरंभ में सर्वप्रथम 'प्राक्कथन' लिखना आवश्यक है। इसे 'आमुख', 'विषय-प्रवेश' या 'प्रस्तावना' भी कहा जा सकता है। इसके लिए 'भूमिका' या 'पृष्ठभूमि' का प्रयोग उचित नहीं है। ये दोनों शब्द प्रतिपाद्य विषय की आधार-भूमि के द्योतक हैं जिसका विवेचन मुख्य प्रबंध का ही अंग है। प्राक्कथन में पाँच बातों का स्पष्टीकरण होना चाहिए—

(क) शोधप्रबंध के लिए गृहीत विषय का महत्त्व या उपयोगिता क्या है?

(ख) प्रस्तुत विषय पर अब तक क्या-क्या शोधकार्य हुआ है; इस विषय में पूर्ववर्ती अनुसंधाताओं की उपलब्धियाँ और कमियाँ क्या हैं, प्रस्तुत शोधप्रबंध के प्रणयन की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई? इन प्रश्नों का युक्ति-संगत समाधान करके लेखक को अपने प्रबंध-लेखन के औचित्य का प्रतिपादन करना चाहिए।

(ग) 'अध्ययन-क्रम' के अंतर्गत सामान्यतः तीन बातों पर संक्षेप में प्रकाश डालना चाहिए—अध्ययन की सामग्री, अध्ययन की विधि और प्रबंध का विभाजन। 'अध्ययन की सामग्री' की चर्चा सापेक्ष है। विषय के अनुसार उसके स्थान और

ाकार में परिवर्तन अनिवार्य है। यदि कोई अनुसंधाता '**विनयपत्रिका** का पाठानु-
धान' कर रहा है तो उसके अध्ययन की सामग्री उक्त ग्रंथ की विभिन्न प्रकाशित
वं अप्रकाशित प्रतियाँ हैं। शोधप्रवंध के मुख्य भाग में ही एक विशिष्ट अध्याय के
ागंत इन पर विस्तारपूर्वक विचार होना चाहिए। यदि कोई अनुसंधाता किसी अज्ञात
वि या कृति पर शोधकार्य कर रहा है तो उसकी 'अनुसंधान की सामग्री' का निरूपण
ो एक स्वतंत्र अध्याय का विषय है। प्राक्कथन में की गयी सांकेतिक चर्चा उसके
ाए कथमपि पर्याप्त नहीं है। परंतु यदि कोई अनुसंधाता तुलसीदास के भक्ति-
र्शन अथवा काव्यकला पर शोधप्रबंध लिख रहा है तो उसके लिए उनकी प्रामा-
ाकता-अप्रामाणिकता अथवा उनकी कृतियों की हस्तलिखित प्रतियों पर विचार
रना बिल्कुल अनावश्यक है। ये अनुसंधान के स्वतंत्र विषय हैं। अतः प्रस्तुत
नुसंधाता को इनसे अलग रहना चाहिए। उसे केवल इतना ही स्पष्ट कर देना
ाहिए कि हमने तुलसीदास की अमुक कृतियों को प्रामाणिक मानकर उनके
क्तिदर्शन अथवा काव्यकला का अनुशीलन किया है। यदि वह परीक्षक से भय-
ीत है तो आत्मरक्षा के लिए तुलसीदास के विशेषज्ञ विद्वानों की साक्षी पर उसे
ह देना चाहिए कि हमने डा० माताप्रसाद गुप्त आदि के अनुसार तुलसीदास की
मुक रचनाओं को प्रामाणिक माना है...। यदि अनुसंधाता का विषय ऐसा है
सके लिए उसे मठों, शोधसंस्थानों आदि की यात्रा करनी पड़ी है तो संक्षेप में
नका उल्लेख किया जा सकता है। प्रकाशित ग्रंथों के संस्करण और अप्रकाशित
थों के प्राप्ति-स्थान आदि का क्रमानुसार उल्लेख ग्रंथ-सूची के अंतर्गत प्रबंध के
श्चानुबंध में करना चाहिए; प्राक्कथन में उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं।
नरावृत्ति जब तक अनिवार्य न हो, तब तक उससे बचना ही श्रेयस्कर है।

'अध्ययन-क्रम' में अनुसंधाता को यह भी बता देना चाहिए कि उसने किस
द्धति से शोधकार्य किया है। उदाहरण के लिए, यदि शोध का विषय 'तुलसी-
ास के काव्य-सिद्धांत' है तो शोधकर्ता को यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि हमने
ागमनात्मक विधि के अंतर्गत तुलसीदास द्वारा शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादित काव्य-
ाद्धांतों का अनुसंधान किया है; आगमनात्मक विधि के अंतर्गत तुलसीदास की
ाव्य-रचना का शास्त्रीय अध्ययन करके उसके आधार पर उनके काव्य-सिद्धांतों
ो विवेचना की है। विधि का उल्लेख करते समय अनुसंधाता को यह भूल नहीं जाना
ाहिए कि शोधप्रबंध 'अनुसंधान की प्रविधि और प्रक्रिया' पर प्रणीयमान निबंध
हीं है।

'अध्ययन-क्रम' के अंतर्गत तीसरी उल्लेख्य वस्तु है—विषय का विभाजन।
सका उल्लेख प्रत्येक शोधप्रबंध में आवश्यक है। अनुसंधाता को यह स्पष्टतया
ता देना चाहिए कि शोधप्रबंध का विभाजन कितने अध्यायों में किया गया है और
ात्येक अध्याय का प्रतिपाद्य विषय क्या है।

(घ) प्रबंध की मौलिकता—यह पहले कहा जा चुका है कि मौलिकता शोध-प्रबंध का आवश्यक धर्म है। इसलिए अनुसंधाता का यह भी आवश्यक कर्तव्य है कि वह अपने प्राक्कथन में अपनी मौलिक देन का स्पष्ट उल्लेख करे। मौलिकता का उल्लेख दो प्रकार से किया जा सकता है। एक प्रकार तो यह है कि 'अध्ययन-क्रम' का विवरण प्रस्तुत करके अंत में एक अवच्छेद में सारे प्रबंध की मौलिकता का उल्लेख एक साथ कर दिया जाए। दूसरा प्रकार यह है कि 'अध्ययन-क्रम' के अंतर्गत प्रत्येक अध्याय के प्रतिपाद्य विषय का परिचय देते हुए उसी के साथ-साथ ईमानदारी और सच्चाई के साथ यह भी वतला दिया जाए कि उस अध्याय में पराजित ज्ञान-संपत्ति कितनी है और अनुसंधाता की मौलिकता, उसका अपना योगदान, कितना है। यह अमायिक और व्यापक स्पष्टीकरण पहली विधि में भी किया जा सकता है। किंतु दूसरी विधि ही अधिक वैज्ञानिक और सारगर्भित है। जब एक साथ ही विषय-विभाजन और प्रत्येक अध्याय की मौलिकता-अमौलिकता का स्पष्टीकरण सुसाध्य है तो फिर दुवारा शृंखला मिलाने का कष्ट क्यों किया जाए ?

(ङ) कृतज्ञता-ज्ञापन—शोधप्रवंध के निर्वर्तन में जिन व्यक्तियों अथवा संस्थाओं से प्रत्यक्ष सहायता मिली है उनके प्रति आभार-प्रदर्शन न करना अनुदारता है। कभी-कभी जान-वूझ कर अथवा भूल से इस प्रकार की त्रुटि हो जाती है। इस विषय में मैं अपना ही उदाहरण दे सकता हूँ। अपने शोधप्रवंध 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' में मैंने अनेक सहायकों के प्रति व्यक्तिगत और नामोल्लेखपूर्वक कृतज्ञता नहीं प्रकट की। उनकी सहायता के विना मेरे शोधप्रवंध की पूर्णता असंभव थी। पंडित कमलाकिशोर त्रिपाठी और उनकी धर्मपत्नी ने द्विवेदीजी की अप्रकाशित कृतियां ('तरुणोपदेश' और 'सोहागरात') तथा वहुत-से पत्र मुझे देखने को दिये थे। यह सारी सामग्री हिंदी-जगत् की दृष्टि से छिपा कर रखी गयी थी। नागरी प्रचारिणी सभा के कार्य-कर्ताओं ने असाधारण आत्मीयता के साथ वहाँ की समस्त सामग्री उपलब्ध की थी। मैंने अपने प्राक्कथन में उनका उल्लेख तक नहीं किया। मैं अपने को उनके प्रति अपराधी समझता हूँ।

कृतज्ञता-ज्ञापन करते समय अनुसंधाता को औचित्य और सीमा का ध्यान रखना चाहिए। अपने संपूर्ण परिवार, समस्त गुरुजनों, अखिल शिष्य-मंडल, मित्र-समुदाय, मुद्रक, प्रकाशक, टाइपिस्ट आदि सबकी नामावली का उल्लेख करके आभार-प्रदर्शन संस्तुत्य नहीं है। किसी न किसी वहाने से भावी परीक्षकों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन अनुसंधान के क्षेत्र में शोचनीय विषय है। भाषावैज्ञानिक विषय पर प्रणीत एक (अप्रकाशित) शोधप्रबंध मेरे देखने में आया। उसके प्राक्कथन में अनुसंधाता ने एक विश्वविद्यालय के हिंदीविभागाध्यक्ष को प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक उद्घोषित करके उनके प्रति आभार प्रदर्शित किया है। उक्त विद्वान् ने न

तो भाषाविज्ञान का विशेष अध्ययन किया है, न भाषाविज्ञान पर कोई ग्रंथ ही लिखा है और न तो कोई उन्हें भाषाविज्ञानी मानता है। इस कृतज्ञता-ज्ञापन से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उपाधिकांक्षी को किसी अवैध पंथ से यह निश्चित सूचना मिल गयी थी कि वे सज्जन प्रस्तोतव्य शोधप्रबंध के परीक्षक अवश्य रहेंगे। खोज करने पर पता चला कि वे इस प्रबंध के परीक्षक थे। अनुसंधाता और परीक्षक को इस प्रकार के अकोर-प्रदान से बचना चाहिए।

शोधार्थी के सामने एक प्रश्न उठ सकता है। मान लीजिए कि कोई अनुसंधाता ब्रजभाषा के क्रिया-रूपों पर शोधकार्य कर रहा है। सबको विदित है कि डा० धीरेन्द्र वर्मा भाषाविज्ञान और ब्रजभाषा के विशेषज्ञ हैं। वह अनुसंधाता स्वयं या अपने पर्यवेक्षक के आदेश से डा० वर्मा का भी निर्देश प्राप्त करता है। वे परीक्षक नियुक्त हो जाते हैं। विद्यार्थी को इसका पता भी चल जाता है। अब, प्रबंध प्रस्तुत करते समय वह डा० वर्मा के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करे या न करे? शिष्टाचार का तकाज़ा है कि अवश्य करे। इसमें कोई औपचारिक बाधा भी नहीं है। जो संकोचशील अनुसंधाता अपने भावी परीक्षक के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन को एक प्रकार का उत्कोच समझते हैं, उनके लिए समीचीन मार्ग यह है कि प्रबंध के प्रकाशन के समय ही आभार-प्रदर्शन करें। अस्तु, ऐसे समय में अनुसंधाता अपनी या अपने पर्यवेक्षक की अंतःकरण-प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करें। जहाँ इस बात का संदेह हो कि किसका नामोल्लेख किया जाए, किसका न किया जाए, वहाँ सबसे सुरक्षित मार्ग यह है कि किसी के भी नाम का उल्लेख न करके एक सामान्य वाक्य से काम चलाइए—इस शोधप्रबंध के प्रणयन में जिन विद्वानों एवं संस्थाओं से सहायता मिली है, लेखक उन सबका हृदय से आभारी है।

पर्यवेक्षक के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का क्या स्वरूप होना चाहिए? यह अनुसंधाता की श्रद्धा पर निर्भर है। यदि उसके हृदय में अपने निर्देशक के प्रति अगाध श्रद्धा है तो अतिशयोक्तिपूर्ण भावाभिव्यक्ति अनुचित नहीं है। यदि मैं गुरुवर डा० दीनदयालु गुप्त के प्रति यह कहता हूँ कि यह शोधप्रबंध तो उन्हीं की वस्तु है, अथवा यदि मेरे पर्यवेक्षण में शोधकार्य करने वाला कोई अनुसंधाता यह कहता है कि इस प्रबंध में जो भी गुण हैं वे डा० सिंह के हैं और दोषों का उत्तरदायित्व मुझ पर है; तो इससे प्रबंध की वास्तविकता, मौलिकता, और गरिमा में कोई अंतर नहीं पड़ता। पर्यवेक्षक निंदनीय भी हो सकता है, परंतु अनुसंधाता को कम से कम अपने शोधप्रबंध में, उसके प्रति अवज्ञा नहीं व्यक्त करनी चाहिए। दर्शनशास्त्र के एक अनुसंधाता ने अपने पर्यवेक्षक का धन्यवाद करते हुए लिखा है कि यदि वे प्रबंध को न देख लेते तो उसमें विराम-चिह्नों की अनेक भूलें रह जातीं। यह पर्यवेक्षक की व्याजनिंदा है। अनुसंधाता को उदात्त होना चाहिए।

परवर्ती संस्करणों के प्राक्कथन के विषय में भी दो शब्द कह देना अपेक्षित है।

शोधप्रबंध के द्वितीय या तृतीय संस्करण की नयी प्रस्तावना या प्राक्कथन लिखते समय पूर्ववर्ती संस्करण या संस्करणों की प्रस्तावना या प्रस्तावनाएँ भी दे देना उपयोगी है; जैसा कि डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने 'तुलसीदास' में किया है। शोधप्रबंध लिखकर उपाधि प्राप्त कर लेने में ही अनुसंधाता के अनुसंधान की इतिश्री नहीं है। नवीनतम खोजों के आधार पर ग्रंथ के परवर्ती संस्करणों में (यदि ऐसा अवसर आए तो) अपेक्षित संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन करते रहना चाहिए। यदि दुबारा प्रकाशन के अवसर पर शोधप्रबंध न्यूनाधिक परिवर्तन के बाद छप रहा हो, तो उसके लिए 'द्वितीय संस्करण' का प्रयोग संगत है। यदि दुबारा संस्कार न किया गया हो, वह ज्यों का त्यों छप रहा हो, तो उसके लिए 'द्वितीयावृत्ति' का व्यवहार ही उचित है। हिंदी के उच्चासनासीनस्थ शोधसंचालक भी 'आवृत्ति' और 'संस्करण' में भेद नहीं करते। उनके द्वारा अनुसंधान के सिद्धांत की उपेक्षा अधिक शोचनीय है।

विषय-सूची

'विषय-सूची' नाम से ही स्पष्ट है कि उसका प्रयोजन प्रबंध में प्रतिपादित विषयों का दिग्दर्शन कराना है। विषय-सूची तैयार करते समय अनुसंधाता को इस प्रयोजन का सदैव ध्यान रखना चाहिए। शोधप्रबंध के आरंभ में विषय-सूची दे देना आवश्यक है। विषय-सूची तीन रूपों में प्रस्तुत की जा सकती है—

(क) खंडों, अध्यायों या परिच्छेदों की क्रमसंख्या और उनमें प्रतिपादित विषयों के शीर्षक मात्र का उल्लेख करके—यह मार्ग सुगम है, श्रम और पैसे की थोड़ी बचत भी कर देता है; विषयों की अस्तव्यस्त निबंधना का (यदि इस प्रकार की गिचपिच है तो) गोपन भी करता है। इसके दोष अपेक्षाकृत अधिक हैं। इससे सूची के प्रयोजन की केवल आंशिक सिद्धि ही होती है। जो परीक्षक शोधप्रबंध को आद्योपांत नहीं पढ़ते, उन्हें इस प्रकार की संक्षिप्त सूची से बड़ी असुविधा होती है : बहुत संभव है कि वे प्रबंध के पन्ने उलटते समय उसके महत्त्वपूर्ण अंशों को ही छोड़ जाएँ। स्वयं लेखक को अपनी या दूसरों की शंका का समाधान करने में कठिनाई हो सकती है। अतएव यह मार्ग ग्राह्य नहीं है।

(ख) शोधप्रबंध की विस्तृत रूपरेखा अथवा सारांश देकर—यह मार्ग अपेक्षाकृत अधिक दुर्गम है। इसके अनुसार अनुसंधाता प्रबंध के विभागानुसार उसके प्रत्येक खंड, अध्याय अथवा परिच्छेद का शीर्षक देकर तदंतर्गत आने वाले उपशीर्षकों और उन उपशीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किये गये विचार-सूत्रों का उल्लेख करता है। इसमें कोई भी अवेक्षणीय विचार-बिंदु छूटने नहीं पाता। यह पद्धति कई दृष्टियों से उपयोगी है। विषय-सूची के अवलोकन से ही पाठक को प्रबंध में प्रतिपादित विषयों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। यदि उसकी रुचि ग्रंथ के अंश-

विशेष में ही है तो उसे उस स्थल को ढूँढ़ने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती। स्वयं अनुसंधाता को स्थलविशेष को खोजने में सुविधा रहती है। इस प्रकार शक्ति और समय का अपव्यय नहीं होता। जो परीक्षक समय या शक्ति की कमी के कारण संपूर्ण शोधप्रबंध को पढ़ने का कष्ट नहीं उठाना चाहते उन्हें इस विस्तृत विषय-सूची से प्रभूत सहायता मिलती है। इस पद्धति के विपक्ष में भी कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। यह कार्य श्रमसाध्य है। यदि श्रम करने के बाद भी सूची भली भाँति व्यवस्थित न हो सकी तो शोधप्रबंध के दोष भी अनायास ही उभर कर सामने आ जाते हैं। परीक्षक पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक है। परंतु, असुविधा और अनिष्ट की आशंका से वैज्ञानिक सिद्धांत की अवहेलना उचित नहीं है। सैद्धांतिक दृष्टि से 'रूपरेखा', 'विषय-सूची' और 'सारांश' में भिन्नता है। सामान्यतः स्वीकृत मान्यता यह है कि रूपरेखा संक्षिप्त होती है, विषय-सूची उससे विस्तृत और सारांश उससे भी विस्तृत। यह दूसरी बात है कि व्यवहार में कुछ लोग 'रूपरेखा' के रूप में प्रस्तुत की गयी वस्तु का 'विषय-सूची' और 'सारांश' के रूप में भी निस्संकोच उपयोग कर लेते हैं।

(ग) खंडों, अध्यायों या परिच्छेदों की क्रमसंख्या और उपशीर्षक देकर— यह उपर्युक्त दोनों मार्गों के बीच का मध्यम मार्ग है। यह पहले रूप की अस्पष्टता और दूसरे रूप की अतिशयता से मुक्त है। यह मार्ग सबसे अधिक सुरक्षित और सबसे कम आपत्तिजनक है। इसलिए सामान्य अनुसंधाता को यही मार्ग अपनाना चाहिए। परंतु जो अनुसंधाता प्रौढ़ हैं, जिनमें आत्मविश्वास है, जो वैज्ञानिक ढंग से विस्तृत सूची दे सकते हैं, उनके लिए यह पद्धति वांछनीय नहीं है।

विषय-सूची के संबंध में एक प्रश्न पृष्ठ-संख्या के उल्लेख का है। इसके भी तीन रूप हो सकते हैं—केवल अध्यायों की पृष्ठ-संख्या का उल्लेख, अध्यायों तथा उनके अंतर्गत दिये गये शीर्षकों की पृष्ठ-संख्या का उल्लेख, और अध्यायों, शीर्षकों तथा उनके उपशीर्षकों की भी पृष्ठ-संख्या का उल्लेख। पहला रूप अतिसंक्षिप्त है, तीसरा अतिविस्तृत। अतः दूसरा रूप ही श्रेष्ठ है। परीक्षा के लिए टंकित शोधप्रबंध प्रस्तुत करते समय केवल अध्यायों की पृष्ठ-संख्या देकर ही काम चलाया जा सकता है, परंतु मुद्रण के समय अध्यायों के अंतर्गत आये हुए शीर्षकों की पृष्ठ-संख्या दे देना अधिक उपयोगी है।

एक बात और। अध्याय और उनका शीर्षक पृष्ठ के मध्य में दीजिए। उनको रेखांकित कर देना अच्छा है। अध्याय जिस पृष्ठ से शुरू होता है और जिस पृष्ठ पर समाप्त होता है वे दोनों संख्याएँ बीच में संयोजक-चिह्न देकर दाहिनी ओर हाशिए के बगल में रखिए। अध्याय के अंतर्गत आने वाले शीर्षकों को बायीं ओर बगल में रखिए। उन्हें रेखांकित कर दीजिए। प्रत्येक शीर्षक के सामने कोलन (:) चिह्न लगाकर उनके उपशीर्षक निर्देशक-चिह्न के साथ देते जाइए। निर्देशक-

चिह्न के वदले अल्प-विराम लगाना ठीक नहीं है, क्योंकि कभी-कभी तीन-चार वस्तुओं के उल्लेख के अवसर पर अल्प-विराम के प्रकृत प्रयोग की आवश्यकता पड़ सकती है। ऐसी दशा में व्यामोह उत्पन्न हो जाने की संभावना है। निर्देशक-चिह्न द्वारा इस प्रकार की भ्रामकता से वचा जा सकता है। जिस पंक्ति में एक शीर्षक की वस्तु समाप्त हो उसके सामने दाहिनी ओर हाशिए के वगल में उसकी पृष्ठ-संख्या दे दीजिए। मुद्रण के समय उसके अध्यायों एवं उनके अंतर्गत दिये गये शीर्षकों को रेखांकित करना ठीक नहीं है। सुंदर यह है कि उन स्थलों पर अपेक्षानुसार बड़े टाइप लगाये जाएँ।

संकेत-सूची

संदर्भोल्लेख के संदर्भ में यह कहा गया था कि यदि किसी रचना का नाम वार-वार आता है तो उसके लिए सांकेतिक वर्णों का प्रयोग सुविधाजनक होता है। उदाहरणार्थ—'रामचरितमानस' के लिए 'रा०', 'भागवतपुराण' के लिए 'भा० पु०' आदि। कभी-कभी अनुसंधाता को इस प्रकार के प्रयोग भी करने पड़ते हैं—'मिला करके देखिए', 'तुलना करके देखिए' आदि। ऐसे स्थलों पर प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से 'मि० दे०', 'तु० दे०' आदि का प्रयोग किया जा सकता है। सामान्य पाठक अथवा परीक्षक को लेखक के तात्पर्य का ग्रहण करने में किसी प्रकार की असुविधा अथवा भ्रांति न हो, इसलिए इस प्रकार के प्रयुक्त संकेतों की तालिका मुख्य शोधप्रवंध के आदि में ही वर्णानुक्रम से प्रस्तुत कर देनी चाहिए। वर्णानुक्रम आवश्यक है। यदि प्रवंध पढ़ते समय पाठक को कहीं संदेह हो जाए तो वह पन्ना उलटकर विना किसी कठिनाई के ज्ञातव्य वस्तु को देख ले। संकेत-सूची देते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि ग्रंथ का नाम एक है और लेखक अनेक हैं, तो उन लेखकों के नाम के लिए उपयुक्त सांकेतिक वर्णों के पूर्ण रूप भी दे देना अपेक्षित है। जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ लेखकों के नाम, ग्रंथ के प्रकाशन आदि का उल्लेख नहीं करना चाहिए। यह सव सूचना ग्रंथ-सूची में दीजिए।

प्रकाशित शोधप्रवंधों के पूर्वानुवंध का एक चौथा रूप भी प्रायः देखने में आता है—व्यक्तिविशेष द्वारा लिखित 'उपोद्घात', 'परिचय', 'भूमिका' या 'दो शव्द' आदि के नाम से। इस अनुवंध के तीन प्रकार हैं—

१. पदेन संपन्न—विभागाध्यक्ष को अपने यहाँ से प्रकाशित शोधप्रवंधों की प्रस्तावना में कुछ न कुछ कहना ही चाहिए। पर्यवेक्षक के पद से लिखे गये 'उपोद्घात' आदि भी पदेन संपन्न हैं। यह स्वयंसिद्ध है कि पर्यवेक्षक अपने पर्यवेक्षण में प्रस्तुत किये गये शोधप्रवंध का संस्तोता है। अप्रत्यक्ष रूप से आत्मश्लाघा होने पर भी उसे प्रवंध की प्रशंसा करनी ही होगी। यदि वह प्रवंध में दोष देखता है तो उसने पहले ही उन दोषों का परिहार क्यों नहीं करा दिया? आत्मविरोध की

अपेक्षा आत्मश्लाघा कम हानिकारक है।

२. **विज्ञप्तिमूलक**—साहित्य-साम्राज्य में जिसका सिक्का चल रहा है, किसी ऐसे दिग्गज लेखक अथवा पदाधिकारी द्वारा विज्ञापन के उद्देश्य से लिखवायी गयी प्रस्तावना विज्ञप्तिमूलक है। आजकल इस प्रकार की प्रस्तावना लिखवाने का फ़ैशन हो गया है। कभी शोधकर्ता का व्यक्तित्व, कभी प्रकाशक का प्रभुत्व और कभी दोनों मिलकर इस प्रकार की भूमिका का आविर्भाव करा लेते हैं। ग्रंथ के मुखपृष्ठ पर भूमिका-लेखक का नाम छापना डंके की चोट पर शोधप्रबंध की महिमा का बलपूर्वक झंडा फहराना है। अनुसंधाता और प्रकाशक मानो गला फाड़ कर यह घोषणा करते हैं कि इस पुस्तक को पढ़ो क्योंकि इसकी भूमिका अमुक महापंडित ने लिखी है। अनुसंधान के देश से यह प्रवृत्ति निष्कासित की जानी चाहिए। विद्वानों से हमारा विनम्र निवेदन है कि अपनी और अनुसंधान की मर्यादा की रक्षा के लिए वे जिस विषय के विशेषज्ञ नहीं हैं उस पर कलम न उठाएँ। कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि बरबस दबाव डालने पर प्रस्तावना-लेखक शोधकर्ता को प्रच्छन्न डंक भी मार देता है। अपनी बुद्धि से ही या दूसरों की प्रतिभा के द्वारा इस तथ्य की अवगति हो जाने पर भी वह बेचारा शोधकर्ता मुँह नहीं खोल सकता—**चोर नारि जिमि प्रगट न रोई**। इस प्रकार की डंकमार भूमिका लिखवाने से क्या लाभ ?

३. **ज्ञानप्रधान**—शोधप्रबंध में प्रतिपादित विषय या उसके मूल विषय के विशेषज्ञ विद्वान् से लिखवायी गयी प्रस्तावना ज्ञानप्रधान है; उदाहरण के लिए, डा० विजयेन्द्र स्नातक के प्रबंध 'राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य' और डा० भगवतीप्रसाद सिंह के प्रबंध 'रामभक्ति में रसिक-संप्रदाय' में क्रमशः डा० दीनदयालु गुप्त और डा० गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित प्रस्तावनाएँ द्रष्टव्य हैं। अनुसंधान का मुख्य उद्देश्य ज्ञान-प्रसार है। इस प्रकार की प्रस्तावनाएँ ज्ञान के प्रसार में सहायक होने के कारण निश्चय ही श्रेष्ठ हैं। यह ठीक है कि सुविख्यात विद्वानों द्वारा लिखवायी गयी इस प्रकार की भूमिकाओं से भी शोधप्रबंध की कुछ न कुछ विज्ञप्ति हो ही जाती है। परंतु, ज्ञान-विस्तार के महान् उद्देश्य की पूर्ति के साथ ही यदि किसी के ग्रंथ की प्रतिष्ठा भी बढ़ जाती है तो इसमें कोई आपत्ति-जनक बात नहीं है। दृष्टिकोण को उदात्त रखने में ही शोभा है।

पश्चानुबंध

प्रबंध के उपसंहार के पश्चात् निबंधनीय वस्तु 'पश्चानुबंध' है। इसके भी तीन विभाग किये जा सकते हैं—

१. परिशिष्ट, २. ग्रंथ-सूची और ३. नामानुक्रमणिका।

परिशिष्ट

'परिशिष्ट' का वाच्यार्थ है—जो छूट गया हो, बचा हुआ; किसी पुस्तक या लेख का पूरक अंश। 'परिशिष्ट' के विषय में अवलंबनीय परिपाटी यह है कि जो वस्तु शोधप्रबंध के मुख्य शरीर में विस्तार, नीरसता अथवा विषयांतर के भय से ग्रथित नहीं की जा सकी, और जो अनुसंधाता के विचार से प्रबंध में प्रतिपादित विषय की सम्यक् अवधारणा कराने में सहायक है, वह ग्रंथ के अंत में परिशिष्ट के अंतर्गत दे दी जाए। उदाहरण के लिए डा० माताप्रसाद गुप्त का शोधप्रबंध 'तुलसीदास' (तृतीय संस्करण) देखिए। मान लीजिए कि कोई अनुसंधाता तुलसी-दर्शन पर शोधप्रबंध लिख रहा है। शास्त्रीय दृष्टि से भक्तिरस का विवेचन दर्शनशास्त्र के अंतर्गत नहीं आता। पाश्चात्य दर्शन में सौंदर्यशास्त्र (ऐस्थेटिक्स) को फ़िलॉसफ़ी का अंग अवश्य माना गया है। भारतीय दर्शन में वह काव्यशास्त्र का विषय है। परंतु, तुलसीदास के भक्तिदर्शन से भक्तिरस का अविच्छेद्य संबंध है। अतः परिशिष्ट के रूप में भक्तिरस का विवेचन समीचीन है। यदि निर्गुणकाव्यधारा का अनुशीलन करने वाला अनुसंधाता उन संतों द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट प्रतीकों का परिशिष्ट के रूप में वर्णानुक्रम से, प्रमाणसंमत और सटिप्पण व्याख्यान प्रस्तुत कर देता है तो इससे प्रबंध का गौरव निश्चय ही बढ़ जाता है। संप्रदायविशेष पर शोधकार्य करने वाला विद्यार्थी उस संप्रदाय के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों और ग्रंथकारों का ही अध्ययन करता है; अपने विवेचन-विश्लेषण के प्रक्रम में उन रचनाओं के उद्धरण और संदर्भ देता है। यदि वह अपने प्रबंध के परिशिष्ट में अविवेचित तत्संप्रदाय-संबंधी साहित्य की भी पूर्ण सूची (पता-सहित) दे दे, तो यह भी अनुसंधान के क्षेत्र में एक प्रकार का योगदान है।

ग्रंथ-सूची

शोधप्रबंध के निर्माण में अनुसंधाता ने जिन ग्रंथों, पुस्तिकाओं, पत्र-पत्रिकाओं, रिपोर्टों आदि से प्रत्यक्ष सहायता ली है, उनकी व्यवस्थित सूची (अर्थात् रचना का नाम, संस्करण, रचनाकार या संपादक का नाम, प्रकाशक और प्रकाशन-काल) दे देना आवश्यक है। प्रबंध में विवेचित तथ्यों का सत्यापित होना ज़रूरी है। यदि शोधप्रबंध के पाठक को किसी तथ्य के सत्यापित होने में संदेह है अथवा यदि वह तत्संबंधी अन्य ज्ञातव्य बातों से अवगत होना चाहता है तो ग्रंथ-सूची में उल्लिखित रचना के निर्दिष्ट संस्करण का अवलोकन करके अपनी जिज्ञासा का समाधान कर सकता है।

प्रायः लोग लिखते हैं—'सहायक ग्रंथ-सूची' और कहना चाहते हैं—सहायक ग्रंथों की सूची। इस तात्पर्य की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें लिखना चाहिए—'सहायकग्रंथ-सूची'। यह स्वयंसिद्ध है कि शोधप्रबंध में जो भी ग्रंथसूची दी जा रही है।

वह उपयोग में लाये गये ग्रंथों की ही सूची है। वह किसी प्रकाशक या पुस्तक-विक्रेता का सूची-पत्र नहीं है। अतएव उसके साथ प्रयुक्त 'सहायक' शब्द निरर्थक है। 'ग्रंथ-सूची' ही पर्याप्त है। कुछ लोग ग्रंथ-सूची का संनिवेश भी 'परिशिष्ट' के ही अंतर्गत करने या कराने के पक्षपाती हैं। यह उचित नहीं है। ग्रंथ-सूची में अधिकतर उन्हीं ग्रंथों का परिगणन किया जाता है जिनका उल्लेख प्रबंध में किया जा चुका है। और, जिनका उल्लेख प्रबंध में हो चुका है उन्हें 'परिशिष्ट' कैसे कहा जा सकता है? प्रबंध के उपजीव्य ग्रंथों की 'परिशिष्ट' में गणना करना तो और भी न्याय-विरुद्ध है। इसलिए, 'ग्रंथ-सूची' को 'परिशिष्ट' की परिधि के बाहर रखना ही तर्कसंगत है। कुछ लोग शोधप्रबंध के आदि में ही ग्रंथसूची दे देना उचित समझते हैं। सभी प्रकार के पाठकों की रुचि का ध्यान रखते हुए अंत में ही उसकी योजना करना अधिक उपयुक्त है।

चतुर्थ प्रकरण में ग्रंथ-सूची-निर्माण के प्रसंग में यह विस्तारपूर्वक बतलाया जा चुका है कि रचनाओं के नाम के पत्र (कार्ड) किस प्रकार तैयार किये जाने चाहिएँ। ग्रंथ-सूची प्रस्तुत करने का सरलतम मार्ग यह है कि उन सभी पत्रों को वर्णानुक्रम से रखकर उन्हें टंकित करा लिया जाए। लेकिन इस पद्धति का अविकल पालन सर्वथा वैज्ञानिक नहीं है। सभी ग्रंथ एक ही कोटि के नहीं हैं। इसलिए, सबको एक साथ रखना ठीक नहीं है। उनका वर्गीकरण करके उन्हें विशिष्ट वर्गों के अंतर्गत ही वर्णानुक्रम से रखना चाहिए। यहाँ कठिनाई यह है कि सभी शोधप्रबंधों के लिए समान रूप से उपयोगी आदर्श-वर्गीकरण प्रस्तुत कर देना संभव नहीं है।

स्थूल रूप से, उपयोगी ग्रंथों के दो वर्ग हैं—१. उपजीव्य ग्रंथ और २. उपस्कारक ग्रंथ। शोधप्रबंध में जिन ग्रंथों का अध्ययन या विवेचन अनुसंधाता का लक्ष्य होता है, वे **उपजीव्य ग्रंथ** हैं। उदाहरण के लिए, यदि शोधप्रबंध का विषय 'आधुनिक रामकाव्य' है तो उसके उपजीव्य ग्रंथ होंगे—'रामस्वयंवर,' 'रामचंद्रोदय', 'पंचवटी', 'साकेत' आदि। इसी प्रकार भक्तिकालीन कवियों द्वारा लिखित ग्रंथ 'भक्तिकालीन कवियों के काव्य-सिद्धांत' नामक शोधप्रबंध के उपजीव्य माने जाएँगे। उपजीव्य ग्रंथों का अध्ययन संपन्न करने में अनुसंधाता जिन अन्य ग्रंथों से सहायता लेता है, वे **उपस्कारक ग्रंथ** हैं। मान लीजिए कि शोध का विषय है—तुलसीदास की काव्यकला। इसके उपस्कारक ग्रंथ हैं—'गोस्वामी तुलसीदास,' 'तुलसीदास', 'तुलसीदास और उनका युग' आदि। तुलसी के काव्य पर लिखे गये आलोचनात्मक ग्रंथों के अतिरिक्त, उपयोग में लाये गये आलोचनात्मक, काव्यात्मक या काव्यकला-संबंधी ग्रंथ भी उपस्कारक ग्रंथ हैं।

बहुत-से ऐसे उपस्कारक ग्रंथ भी हो सकते हैं जिनका उल्लेख शोधप्रबंध में नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, तुलसीदास पर अनुसंधान करने वाले विद्यार्थी ने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' आदि

ग्रंथों को पढ़कर उनसे लाभ उठाया है, परंतु शोधप्रबंध में उनके संदर्भोल्लेख या उद्धरण की कहीं आवश्यकता नहीं पड़ी। अब प्रश्न यह है कि 'ग्रंथ-सूची' में उसे इन ग्रंथों के नाम देने चाहिएँ या नहीं। मेरे विचार से, न देना उचित है। यदि इनके नाम दिये जाएँ तो फिर उन सभी ग्रंथों के नाम क्यों न दिये जाएँ जिनके अध्ययन के फलस्वरूप विद्यार्थी तुलसीदास पर शोधप्रबंध लिखने के योग्य हुआ है? इस तरह संभाव्य आनंत्य-दोष से बचने के लिए और ग्रंथ-सूची की यथार्थ प्रयोजन-सिद्धि के लिए केवल उल्लिखित रचनाओं को ही 'ग्रंथ-सूची' में स्थान देना चाहिए।

शोधकर्ता ग्रंथों के अतिरिक्त पुस्तिकाओं, मुद्रित भाषणों, पत्र-पत्रिकाओं, गजेटियरों, रिपोर्टों आदि का भी उपयोग करता है। इनका अंतर्भाव भी पूर्वोक्त दो वर्गों में ही है। गोबलीवर्दन्याय से इनके अलग-अलग वर्ग बनाकर इनकी सूची दे देना अधिक उपयोगी है। इनके लिए भी 'ग्रंथ-सूची' शीर्षक का समर्थन भाग-त्यागलक्षणा के आधार पर किया जा सकता है।

नामानुक्रमणिका

सामान्य पाठकों एवं परवर्ती अनुसंधाताओं की सुविधा के लिए शोधप्रबंध में आये हुए नामों की अनुक्रमणिका दे देना भी अनुसंधाता का कर्तव्य है। परीक्षणार्थ प्रस्तुत किये जाने वाले टंकित प्रबंध में यह आवश्यक नहीं है। लेकिन, मुद्रित प्रबंध में इसकी योजना आवश्यक है। नामों के मुख्यतः दो वर्ग हैं—१. व्यक्तियों के नाम और २. रचनाओं के नाम। इन दो वर्गों के अंतर्गत नामानुक्रमणिका का विधान होना चाहिए। दोनों को एक में मिला देने से भ्रांति की संभावना हो सकती है। दो पुस्तकें हैं—'शंकराचार्य' (पं० बलदेव उपाध्याय) और 'तुलसीदास' (डा० माताप्रसाद गुप्त)। व्यक्तियों के नामों के साथ इनका उल्लेख करने से यह भ्रम हो सकता है कि ये प्रसिद्ध दार्शनिक शंकराचार्य और रामचरितमानसकार तुलसीदास हैं। अतः, दोनों प्रकार के नामों की वर्गीकृत सूची ही प्रस्तोतव्य है।

'अनुबंध' शब्द के प्रयोग के विषय में भी कुछ कह देना अपेक्षित है। पूर्वानुबंध के तीन प्रकारों के लिए शीर्षक के रूप में 'अनुबंध' शब्द का प्रयोग सर्वथा अनावश्यक है। न कोई करता है, और न करना चाहिए। पश्चानुबंधों के लिए 'अनुबंध' का व्यवहार सर्वाधिक उचित है। उसके पेटे में सभी प्रकार के परिशिष्टों, ग्रंथ-सूची और नामानुक्रमणिका सभी का समावेश किया जा सकता है। 'अनुबंध—१', 'अनुबंध—२' आदि के क्रम से उन सबका विन्यास करना न्यायसंगत है।

अष्टम प्रकरण

हिंदी-अनुसंधान की प्रगति

हिंदी-अनुसंधान का आरंभ—हिंदी-अनुसंधान के विषय में यह तथ्य अवेक्षणीय है कि उसका आरंभ विदेशी विश्वविद्यालयों में और विदेशियों द्वारा हुआ था। इस प्रसंग में यह भी स्मर्तव्य है कि उस समय भारतीय विश्वविद्यालयों में हिंदी की स्नातकोत्तर कक्षाएँ भी नहीं थीं। एक अहिंदीभाषी प्रदेश के विश्वविद्यालय (कलकत्ता) में ही सर्वप्रथम हिंदी की स्नातकोत्तर-कक्षाएँ चालू की गयीं। हिंदी लेकर सर्वप्रथम एम० ए० पास करने का श्रेय भी एक अहिंदीभाषी (श्री नलिनी मोहन सान्याल) को ही है।

फ़्लॉरेंस विश्वविद्यालय के स्नातक श्री लुइजि पिओ तेस्सितोरी ने सन् १९११ ई० में इतालियन में एक लेख लिखा—'रामचरितमानस और रामायण' (Il Ramacaritamanasa e il Ramayana)[1] आगे चलकर इस लेख का अंग-रेजी-अनुवाद भी प्रकाशित हुआ—'दि रामचरितमानस ऐन्ड रामायण'।[2] प्राच्य-विद्याविशारदों ने श्री तेस्सितोरी के उक्त लेख की बड़ी प्रशंसा की। डा० ग्रियर्सन ने उसकी संस्तुति करते हुए कहा कि उनका यह कार्य प्राकृत-भाषाओं के अध्ये-ताओं के लिए अनुसंधान-पद्धति का उत्कृष्ट उदाहरण है। उपर्युक्त 'निबंध से प्रसन्न होकर' फ़्लॉरेंस विश्वविद्यालय ने उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।[3] 'राजस्थान-भारती' और पत्रव्यवहार आदि से यह सिद्ध नहीं हो सका कि उनकी यह डॉक्टरेट प्रस्तुत किये गये शोधप्रबंध का परीक्षाफल है अथवा संमानित (ऑनरेरी) है, और उनकी उपाधि-प्राप्ति में उनके अन्य शोधप्रबंधों का भी योग-दान है अथवा नहीं। वर्तमान परिस्थिति में हम यही कह सकते हैं कि, अनुसंधान

---

1. Geornale della societa asiatica italiana, Vol. XXIV, 1911, pp. 99-164
2. Indian Antiquary, Vol. XLI (pp. 273-286) and Vol. XLII (pp. 1-18)
३. राजस्थान-भारती, भाग ३, अंक १, पृ० ६७

के आधुनिक अर्थ में, यह हिंदी-विषयक सर्वप्रथम शोधनिबंध है जो पी-एच० डी० की उपाधि के लिए संस्तुत हुआ।

हिंदी-विषयक अनुसंधान का दूसरा प्रयास लन्दन में किया गया। सन् १९१८ ई० में श्री जे० एन कारपेन्टर का शोधप्रबंध 'दि थियॉलाजी ऑफ़ तुलसीदास' (तुलसीदास का धर्मदर्शन) लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा डी० डी० (डॉक्टर ऑफ़ डिविनिटी) की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।[1] हिंदी-संबंधी विषय पर परीक्षणार्थ प्रस्तुत किया गया सर्वप्रथम शोधप्रबंध यही है। यह बात लक्ष्य करने योग्य है कि इस पहले शोधप्रबंध पर 'डाक्टर' शब्द का पहला अर्थ विशेष रूप से घटित होता है—वह धार्मिक व्यक्ति जो अध्यात्मशास्त्रीय पांडित्य एवं व्यक्तिगत पवित्रता में श्रेष्ठ हो और जो, सामान्यतः प्रतिष्ठित मत का व्याख्याता तथा प्रतिरक्षक हो। इस प्रकार हिंदी-संबंधी प्रथम दो अनुसंधान-प्रबंध लिखने और उपाधियाँ देने का श्रेय विदेशियों को है। तीसरा शोधप्रबंध श्री मोहिउद्दीन क़ादरी का 'हिंदुस्तानी फ़ॉनेटिक्स' (हिंदुस्तानी ध्वनिविज्ञान) है। इस पर सन् १९३० ई० में लन्दन विश्वविद्यालय ने उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। इस शोध-कार्य के विषय का चुनाव उर्दू के अंतर्गत किया गया था।

सन् १९३१ ई० में श्री बाबूराम सक्सेना को उनके शोधप्रबंध 'एव्होल्यूशन ऑफ़ अवधी' (अवधी का विकास) पर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट० की उपाधि प्राप्त हुई। किसी भारतीय विश्वविद्यालय द्वारा डॉक्टरेट उपाधि के लिए स्वीकृत हिंदी-विषयक प्रथम शोधप्रबंध यही है। यह प्रबंध संस्कृत-विभाग के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया था। सन् १९३१ में ही श्री एफ़० ई० के को उनके शोधप्रबंध 'कबीर ऐन्ड हिज़ फ़ॉलोअर्स' (कबीर तथा उनके अनुयायी) पर लन्दन विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली।

भारतीय विश्वविद्यालय की डॉक्टरेट उपाधि के लिए, हिंदी-साहित्य-संबंधी विषय पर और हिंदी-विभाग के अंतर्गत सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया शोधप्रबंध 'दि निर्गुण स्कूल ऑफ़ हिंदी पोएट्री' (हिंदी-काव्य में निर्गुण-संप्रदाय) है। इस प्रबंध पर हिंदू विश्वविद्यालय, काशी, ने (स्व०) श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल को सन् १९३४ ई० में डी० लिट० की उपाधि प्रदान की। इसी वर्ष श्री जनार्दन मिश्र को कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। उनके अनुसंधान का विषय था—'सूरदास का धार्मिक काव्य'। सन् १९३५ ई० में श्री धीरेन्द्र वर्मा का प्रबंध 'ल लाँग ब्रज' (ब्रजभाषा) पेरिस विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

सन् १९११ से लेकर १९३५ ई० तक की एक चौथाई शताब्दी हिंदी-अनु-

---

१. लन्दन विश्वविद्यालय के अकेडेमिक रजिस्ट्रार के पत्र के आधार पर

संधान का आरंभ-काल है। इस काल में हिंदी-विषयक अनुसंधान के छिटफुट प्रयास किये गये। कुल मिलाकर आठ अनुसंधाताओं ने शोधकार्य किया। उनमें से तीन विदेशी थे। आठ में से केवल दो उपाधियाँ भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदान की गयीं। सभी शोधप्रबंध हिंदीतर भाषाओं में लिखे गये। तीन का अध्ययन भाषावैज्ञानिक था। शेष पाँच के प्रतिपाद्य विषयों का संबंध हिंदी के भक्तिकालीन भक्तिकाव्य से था। शुद्ध साहित्यिक या काव्यशास्त्रीय दृष्टि से किसी भी शोधप्रबंध का प्रणयन नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि विश्वविद्यालयों में हिंदी-साहित्य और उसके अध्ययन-अध्यापन को गौरवपूर्ण पद नहीं प्राप्त हुआ था। अतः उसके अनुसंधान को भी प्रोत्साहन नहीं मिला। दूसरा कारण यह था कि उन दिनों अन्य विषयों में भी, सामान्य रूप से, अनुसंधान का विकास नहीं हो पाया था। सभी क्षेत्रों में अनुसंधान की शैशवावस्था थी।

हिंदी-अनुसंधान का विकास—सन् १९३७ ई० से हिंदी-अनुसंधान का प्रवाह अजस्र गति से आगे बढ़ता रहा। अब पाँच भारतीय विश्वविद्यालयों (काशी, प्रयाग, नागपुर, पंजाब और आगरा) में हिंदी-विषयक शोधकार्य होने लगा था। इस क्रम में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। सन् ४६-४७ ई० में कलकत्ता, पटना और लखनऊ को मिलाकर यह संख्या आठ तक पहुँच गयी। विभिन्न दृष्टियों से हिंदी भाषा और साहित्य का गवेषणात्मक अध्ययन किया गया। काव्यशास्त्र, भाषा-विज्ञान, विशिष्ट साहित्यकारों, काव्यधाराओं आदि पर शोधप्रबंध लिखे गये। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी हिंदी-साहित्य का अनुशीलन हुआ। इस प्रकार, सन् १९३७ ई० से १९४७ ई० तक का समय हिंदी-अनुसंधान का विकास-काल है। इस काल में कुल मिलाकर उनतीस शोधप्रबंध प्रणीत हुए।

हिंदी-अनुसंधान के इतिहास को स्थूल रूप से दो कालों में विभाजित किया जा सकता है—स्वातंत्र्यपूर्व काल और स्वातंत्र्योत्तर काल। ईदृक्ता की दृष्टि से स्वातंत्र्यपूर्व काल के अनुसंधान-कार्य की उपलब्धि प्रशंसनीय है। कुछेक प्रबंध ही निकृष्ट कोटि के हैं। उत्तम या मध्यम कोटि के शोधप्रबंधों की संख्या ही अधिक है। 'हिंदी-काव्य में निर्गुण-संप्रदाय' 'ब्रजभाषा', 'तुलसी-दर्शन', 'तुलसीदास', 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' आदि प्रबंधों ने हिंदी अनुसंधान और आलोचना की निश्चय ही श्रीवृद्धि की है। तत्कालीन अनुसंधान के व्यापक सर्वेक्षण से निष्कर्ष निकलता है कि उस युग के अधिकतर अनुसंधाता, पर्यवेक्षक और परीक्षक अपने उत्तरदायित्व के प्रति विशेष सजग थे। कारणों के संश्लिष्ट रूप पर विचार करने से विदित होता है कि प्रकृत्या और संस्कृत्या उनमें धर्मभावना एवं कर्तव्यनिष्ठा भरपूर थी। उन्हें हिंदी की और साथ ही अपनी प्रतिष्ठा का सम्यक् ध्यान था। वे विश्वविद्यालय की हलचल और लक्ष्मी की उपासना से बहुत-कुछ दूर

रहकर सरस्वती-साधना में तत्पर थे। उन दिनों हीन समझी जाने वाली हिंदी के उपहासकों की तीखी आलोचनाओं से बचने के लिए भी सावधान रहना अनिवार्य था।

हिंदी-अनुसंधान का विस्तार—सन् १६४८ ई० से हिंदी-अनुसंधान का विस्तार-काल आरब्ध होता है। सन् ४७ में देश अँगरेजों के शासन से स्वतंत्र हो गया। लोगों ने समझा कि अंगरेजी का आधिपत्य भी शीघ्र ही समाप्त होने वाला है। इसका परिणाम यह हुआ कि विश्वविद्यालयों की स्नातकोत्तर-कक्षाओं में अँगरेजी के विद्यार्थियों की संख्या घट गयी और हिंदी की छात्र-संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। हिंदी को गौरव मिला। उसका भविष्य उज्ज्वल दिखायी पड़ने लगा। ऐसी दशा में उसकी उच्चतम उपाधि प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक अनुसंधित्सु उस ओर अग्रसर हुए। यद्यपि कुछ ही काल बाद, अँगरेजी के स्थान पर हिंदी की अविलंब प्रतिष्ठा की उत्साहमयी आशा धूमिल होने लगी थी तथापि उसकी प्रगति का पथ अवरुद्ध नहीं हुआ। जिन विश्वविद्यालयों में पहले से हिंदी में शोधकार्य हो रहा था उनमें तो अनुसंधाताओं की संख्या बढ़ी ही, अनेक अन्य विश्वविद्यालयों ने भी हिंदी में अनुसंधान कराना आरंभ किया। नये-नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए। उसी अनुपात से हिंदी-अनुसंधान का भी विस्तार होता गया।

इस समय भारतवर्ष के उनतीस विश्वविद्यालयों में हिंदी-विषयक शोधकार्य हो रहा है। हिंदी भाषा और साहित्य के विविध पक्षों पर अब तक कुल मिलाकर लगभग दो सहस्र विषय शोध के लिए स्वीकृत हो चुके हैं, जिनमें से लगभग सवा पाँच सौ विषयों पर अनुसंधान-कार्य संपन्न हो चुका है। शेष डेढ़ हजार में से अधिकांश पर द्रुतविलंबित गति से कार्य हो रहा है। स्वीकृत शोधप्रबंधों[1] की विश्वविद्यालयानुसार संख्या इस प्रकार है—

	विश्वविद्यालय	पी-एच० डी० या डी० फ़िल०	डी० लिट०	योग
१–४.	विदेशी विश्वविद्यालय	११ (१ डी० डी०)	२	१३
५.	प्रयाग विश्वविद्यालय	६१	८	६६
६.	हिंदू वि० वि०, काशी	३६	६	४२
७.	आगरा विश्वविद्यालय	१४१	६	१५०
८.	नागपुर विश्वविद्यालय	२१	२	२३
६.	पंजाब विश्वविद्यालय	२४	०	२४
१०.	कलकत्ता विश्वविद्यालय	६	०	६

---

१. इनके विस्तृत विवरण के लिए देखिए—हिंदी के स्वीकृत शोधप्रबंध, द्वितीय संस्करण

११.	पटना विश्वविद्यालय	५	४	६
१२.	लखनऊ विश्वविद्यालय	६५	४	६६
१३.	राजस्थान वि० वि०, जयपुर	२६	०	२६
१४.	दिल्ली विश्वविद्यालय	३२	०	३२
१५.	सागर विश्वविद्यालय	२६	०	२६
१६.	मुस्लिम वि० वि०, अलीगढ़	१२	०	१२
१७.	पूना विश्वविद्यालय	१	०	१
१८.	बिहार वि० वि०, मुजफ्फरपुर	३	१	४
१९.	मद्रास विश्वविद्यालय	१	०	१
२०.	उस्मानिया वि० वि०, हैदराबाद	२	०	२
२१.	गोरखपुर विश्वविद्यालय	५	०	५
२२.	भागलपुर विश्वविद्यालय	२	०	२
२३.	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन	१	०	१
२४.	म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा	१	०	१
२५.	राँची विश्वविद्यालय	१	०	१
		४८६	३६	५२२

हिंदी-अनुसंधान की उपलब्धि—हिंदी-अनुसंधान के आरंभ-काल (१९११-१९३५ ई०) में हिंदी-विषयक शोधकार्य केवल भाषाविज्ञान और भक्तिकाव्य की परिधि में ही सीमित रहा। विकास-काल (१९३७-१९४७ ई०) में उसका क्षितिज कुछ विस्तृत हुआ। काव्यशास्त्र, आधुनिक साहित्य, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन आदि की ओर भी अनुसंधाताओं की प्रवृत्ति हुई। फिर भी, हिंदी-अनुसंधान की अनेक दिशाएँ उनकी दृष्टि से ओझल रहीं। इस न्यूनता की अपेक्षित पूर्ति विस्तार-काल (१९४८ ई० से अब तक) में हुई।

इस काल में पाठानुसंधान पर पाँच शोधप्रबंध स्वीकृत हुए। कई विश्वविद्यालयों में पाठालोचन पर कार्य हो भी रहा है। पाठशोध के क्षेत्र में श्री पारसनाथ तिवारी का योगदान विशेष श्लाघ्य है। उनके द्वारा संपादित 'कबीर-ग्रंथावली' हिंदी-अनुसंधान की आवश्यकता की महत्त्वपूर्ण पूर्ति है। कबीर-वाणी की पाठ-समस्या बड़ी जटिल थी। उन्होंने विभिन्न संस्थाओं एवं व्यक्तिगत संग्रहों में सुरक्षित ७५ हस्तलिखित प्रतियों और सवा सौ मुद्रित प्रतियों का श्रमपूर्वक परीक्षण किया। सत्रह प्रतिनिधि-प्रतियों का पाठमिलान किया। विवेच्य सामग्री का आलोचनात्मक विश्लेषण और वर्गीकरण करके, पाठालोचन के मान्य सिद्धांतों के आधार पर, कबीर की प्रामाणिक रचनाओं (२०० पदों, २१ रमैनियों और ७४४ साखियों) के प्राचीनतम पाठ का पुनरुद्धार किया। इस प्रकार कबीर-साहित्य के भावी

अनुसंधाताओं का मार्ग प्रशस्त किया। इस दिशा में दूसरा अवेक्षणीय प्रयास श्री तारकनाथ अग्रवाल का है। हिंदी-साहित्य के आदिकाल की अधिकांश सामग्री विवादग्रस्त है। अतएव उस युग के ग्रंथों के पाठनिर्धारण की आवश्यकता असंदिग्ध है। श्री अग्रवाल ने २७ हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'वीसलदेव रासो' का सटिप्पण संपादन करके पाठशोध-संबंधी अध्ययन को अग्रसर किया है।

भाषा-संबंधी अध्ययन के क्षेत्र में लगभग सत्तावन शोधप्रबंध स्वीकृत हो चुके हैं। उनका परिसर बहुत ही व्यापक और वैविध्यपूर्ण है—ध्वनिविज्ञान, अर्थविज्ञान, वाक्यविज्ञान, प्रत्ययविचार, शब्दावली, मुहावरे-कहावतें, हिंदी की उपभाषाएँ, बोलियाँ, विशिष्ट साहित्यकारों की भाषा, व्यक्तियों-स्थानों के नाम आदि। अनेक विश्वविद्यालयों में हिंदी एवं हिंदीतर भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर भी कार्य हो रहा है। 'एव्होल्यूशन ऑफ़ अवधी' (श्री बाबूराम सक्सेना) 'ब्रजभाषा' (श्री धीरेन्द्र वर्मा), भोजपुरी भाषा और साहित्य' (श्री उदयनारायण तिवारी), 'हिन्दी सेमैन्टिक्स' (श्री हरदेव बाहरी) आदि प्रबंधों में भाषाशास्त्रज्ञ अनुसंधाताओं ने हिंदी के विविध अंगों का विशद विवेचन किया है।

हिंदी के विशिष्ट साहित्यकारों और विशिष्ट कृतियों का तथा उनके पक्ष-विशेष का भी सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अपने साहित्यिक गौरव के अनुसार ही सर्वाधिक अधीत साहित्यकार तुलसीदास (२६ शोधप्रबंध), सूरदास (९ शोधप्रबंध) और जयशंकर प्रसाद (७ शोधप्रबंध) हैं। केवल 'रामचरितमानस'-विषयक स्वीकृत शोधप्रबंधों की संख्या तेरह है। कबीरदास, केशवदास, मलिक मुहम्मद जायसी, प्रेमचंद आदि पर भी अनेक शोधप्रबंध लिखे गये हैं। विभिन्न साहित्यकारों की जीवनी, कृतियों, काव्यकला, काव्यसिद्धांत, जीवन-दर्शन आदि का वैज्ञानिक विधि से अनुशीलन किया गया है। 'तुलसीदास' (श्री माताप्रसाद गुप्त), 'सूरदास—जीवनी और कृतियों का अध्ययन' (श्री ब्रजेश्वर वर्मा), 'सूर और उनका साहित्य' (श्री हरवंश लाल शर्मा) आदि में इन कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व का विस्तृत पटभूमिका में अनुशीलन किया गया है। अनेक शोधप्रबंधों में सीमित विषयों का गंभीर विश्लेषण और विवेचन है, जैसे 'तुलसी-दर्शन' (श्री बलदेवप्रसाद मिश्र), 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन' (श्री द्वारिकाप्रसाद), 'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत' (श्री रामलाल सिंह), 'रासो की भाषा' (श्री नामवर सिंह) आदि।

काव्यशास्त्रीय अनुसंधान के क्षेत्र में भी काफी प्रगति हुई। एतद्विषयक प्रथम दो शोधप्रबंधों में श्री रामशंकर शुक्ल 'रसाल' और श्री भगीरथ मिश्र ने हिंदी-काव्यशास्त्र का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया। शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से दो प्रबंध विशेष उल्लेखनीय हैं—'ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' (श्री भोलाशंकर व्यास) एवं 'रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण' (श्री आनन्दप्रकाश

दीक्षित)। इन प्रबंधों के संस्कृतज्ञ प्रणेताओं ने भारतीय काव्यशास्त्र में बहुचर्चित पूर्वोक्त सिद्धांतों की गहरी छानबीन करके प्रतिपाद्य विषय का पांडित्यपूर्ण आख्यान किया है। हिंदी-काव्य में विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति, अलंकारयोजना, छंदःशास्त्र, काव्यरूप, काव्यशिल्प आदि विषयों पर भी अनेक प्रबंध लिखे गये हैं जो हिंदी-साहित्यशास्त्र के निर्माण में सहायक हैं।

हिंदी का कविता-साहित्य अपेक्षाकृत अधिक संपन्न है। साहित्य के सहृदय विद्यार्थी कविता में विशेष रुचि भी रखते हैं। इसलिए, कविताविषयक शोधकार्य की इयत्ता किसी भी अन्य साहित्यांग की अपेक्षा बहुत अधिक है। आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिशृंगारकाल, भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और द्विवेदी-उत्तर युग के कवियों, काव्यधाराओं, काव्यप्रवृत्तियों, काव्यशैलियों आदि पर शताधिक शोध-प्रबंधों की निबंधना हुई है। महाकाव्यों, खंडकाव्यों, प्रकृतिचित्रण, नीतिकाव्य, संगीतात्मकता आदि पर भी भी शोधकार्य हुआ है। इस प्रकार हिंदी-कविता के प्रेरक तत्त्वों, प्रतिपाद्य विषय और प्रतिपादन-कला के विविध पक्षों का विविध दृष्टियों से विस्तारपूर्वक निरीक्षण-परीक्षण किया गया है।

आधुनिक काल में गद्य-साहित्य को अभूतपूर्व गौरव मिला है। हिंदी-अनुसंधान के विस्तार-काल में गद्य-साहित्य के विविध रूपों का भी सर्वतोमुख अनुशीलन किया गया। हिंदी-गद्य के विकास, गद्यशैली, गद्यकाव्य, नाटक और नाट्यशिल्प, उपन्यास-कहानी और उनकी शिल्प-विधि तथा आलोचना के विकास और प्रवृत्तियों पर पचास से अधिक शोधप्रबंध स्वीकृत हुए। शोधकर्ताओं ने हिंदी-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन को भी आगे बढ़ाया। 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (श्री रामकुमार वर्मा), 'हिंदी-साहित्य का विकास' (श्री श्रीकृष्ण लाल), 'हिंदी-साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका' श्री लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय) आदि ग्रंथों में हिंदी-साहित्य की निर्माणकारिणी परिस्थितियों और उसके विकास का समीक्षात्मक विवेचन किया गया है।

हिंदी-साहित्य (विशेषतया काव्य-साहित्य) और हिंदी-प्रदेश की संस्कृति के निर्माण में संप्रदायों की देन अनुपेक्षणीय है। इन संप्रदायों के साहित्य और सिद्धांतों के गवेषणात्मक अध्ययन से हिंदी-अनुसंधान की संपत्ति वृद्धिमती हुई है। इस वर्ग के पाँच शोधप्रबंध काल के प्रवाह में बहुत दिनों तक अपना स्थान बनाए रखेंगे— 'हिंदी-काव्य में निर्गुण-संप्रदाय' (श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल), 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' (श्री दीनदयालु गुप्त), 'रामभक्ति में रसिक-संप्रदाय' (श्री भगवती प्रसाद सिंह), 'राधावल्लभ-संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य' (श्री विजयेन्द्र स्नातक) तथा 'रामानन्द-संप्रदाय और हिंदी-साहित्य पर उसका प्रभाव' (श्री बदरीनारायण श्रीवास्तव)।

अन्य केंद्रबिंदुओं से भी सर्वतोमुख शोधकार्य हुआ। विभिन्न प्रदेशों, भाषाओं,

दरबारों, घरानों आदि के साहित्यकारों के समुदायविशेष पर शोधप्रबंध लिखे गये। अनेक अनुसंधाताओं ने प्राचीन और अर्वाचीन हिंदी-साहित्य का सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन भी प्रस्तुत किया। नारियों के योगदान और नारीचित्रण पर भी तेरह प्रबंध संपन्न हुए। लगभग पचीस अन्य शोधछात्र नारी-संबंधी विषयों पर कार्य कर रहे हैं। आधुनिक काल लोकतंत्र का युग है। अतएव, युगधर्मानुसार, लोकसाहित्य, लोकसंस्कृति एवं लोकतत्त्व पर भी उन्नीस शोधप्रबंध प्रणीत हो चुके हैं और विभिन्न विश्वविद्यालयों में लगभग ६८ शोधप्रबंधों का प्रणयन हो रहा है। साहित्यिक अर्हा की दृष्टि से इन विषयों की श्रेष्ठता के सामने प्रश्नवाचक चिह्न भले ही लगा दिया जाए, किंतु इनका सांस्कृतिक मूल्य निर्विवाद है।

भाषा और साहित्य के मर्म की सम्यक् प्रतीति करने-कराने में तुलनात्मक अध्ययन भी उपयोगी होता है। इसलिए आलोचकों ने समीक्षा की तुलनात्मक पद्धति की महिमा स्वीकार की है। हिंदी-अनुसंधाताओं द्वारा किये गये तुलनात्मक अनुसंधान के दो प्रकार हैं। पहला प्रकार वह है जिसकी परिधि हिंदी भाषा और साहित्य तक ही सीमित है। दूसरे प्रकार के अंतर्गत हिंदी भाषा तथा साहित्य एवं हिंदीतर भाषाओं और साहित्य (संस्कृत, बँगला, पंजाबी, गुजराती, मराठी, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम आदि) का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस प्रकार का अध्ययन ज्ञान के सीमाविस्तार और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से अभिनंदनीय है।

हिंदी-साहित्य अपने विकास के विभिन्न युगों में भारतीय एवं अभारतीय वाङ्मय तथा युगीन परिस्थितियों से प्रभावित होता रहा है। उसमें निहित तत्त्वों को भली भाँति समझने-समझाने के लिए उन प्रभावक तत्त्वों की मीमांसा भी अपेक्षित है। हिंदी में प्रभाव-निरूपक विषयों पर भी व्यापक रूप से अनुसंधान हुआ है। इस वर्ग के शोधप्रबंधों के तीन उपवर्ग किये जा सकते हैं—१. हिंदी के पूर्ववर्ती साहित्य का उसके परवर्ती साहित्य पर प्रभाव, २. हिंदी भाषा और साहित्य पर हिंदीतर भाषा और साहित्य का प्रभाव, तथा ३. हिंदीतर भाषा और साहित्य पर हिंदी का प्रभाव। प्रस्तुत प्रसंग में यह बात ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रहती कि केवल एक अपवाद को छोड़कर हिंदी के समस्त प्रभावनिरूपक प्रबंध प्रथम दो उपवर्गों के ही अंतर्गत आते हैं। आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध 'बँगला (भाषा और साहित्य) पर हिंदी (भाषा और साहित्य) का प्रभाव' (श्री ब्रह्मानंद) ही एकमात्र प्रबंध है जिसमें किसी हिंदीतर भाषा और साहित्य पर हिंदी के प्रभाव का आकलन किया गया है। अन्य दृष्टियों से भी हिंदी में विविधविषयक शोधकार्य किया गया है, उदाहरणार्थ—हिंदी-पत्रकारिता, हिंदी का जीवनी-साहित्य, यात्रा-साहित्य,

काश-साहित्य आदि ।

पहले कहा जा चुका है कि हिंदी-संबंधी विषयों पर लिखित और स्वीकृत शोधप्रबंधों की संख्या लगभग सवा पाँच सौ है । इनमें से कुछ शोधप्रबंध हिंदीतर विभागों (धर्मदर्शन. दर्शन, इतिहास, संस्कृत, भाषाविज्ञान, अंग्रेजी, तमिल आदि) के अंतर्गत स्वीकृत हुए हैं । यदि भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत सभी शोधप्रबंधों का लेखा प्रस्तुत किया जाए तो यह ज्ञात होगा कि हिंदी-प्रबंधों की संख्या मानविकी (ह्यूमैनिटीज़) के समस्त शोधप्रबंधों की संख्या से अधिक है । मेरा दृढ़ अनुमान है कि हिंदी के शोधप्रबंधों की उक्त संख्या अन्य भारतीय भाषाओं के स्वीकृत शोधप्रबंधों की संमिलित संख्या से लगभग दुगुनी है । अन्य विषयों के प्रकाशित प्रबंधों की तुलना में हिंदी के प्रकाशित प्रबंधों का अनुपात तो और भी अधिक होगा ।

कुल मिलाकर हिंदी-अनुसंधान की उपलब्धि संतोषप्रद है । हिंदी भाषा, साहित्य और संस्कृति से संबद्ध विषयों पर तथ्यप्रधान, आलोचनाप्रधान या उभयात्मक दृष्टि से अनेक उच्च कोटि के शोधप्रबंधों का प्रणयन हुआ है । उनमें हिंदी की विपुल अज्ञात सामग्री का ज्ञापन, अनाख्यात सामग्री का गवेषणात्मक विवेचन एवं आख्यात सामग्री की नूतन दृष्टि से अनुसंधानात्मक परीक्षा की गयी है । अनुसंधाताओं ने वैज्ञानिक पद्धति से तथ्यों का संग्रह, वर्गीकरण और विश्लेषण किया है । उनके आधार पर, अपेक्षित प्रमाणोल्लेख करते हुए, महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों की न्यायसंगत प्रस्थापना की है । हिंदी-भाषा के विभिन्न पक्षों, हिंदी-साहित्य के विभिन्न कालों, प्रवृत्तियों, विधाओं, संप्रदायों, साहित्यकारों, रचनाओं और काव्यप्रतिमानों आदि का शोधबुद्धि से सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक विशद अनुशीलन किया है ।

प्राय: सुनने में आता है कि हिंदी के शोधप्रबंधों का स्तर बहुत निम्न है । यथार्थ यह है कि प्रत्येक सृष्टि गुणदोषमयी होती है, और हिंदी के शोधप्रबंध इस तथ्य के अपवाद नहीं हैं । हिंदी के अनुसंधान-साहित्य में जहाँ एक ओर श्रेष्ठ गौरवग्रंथ हैं, वहाँ दूसरी ओर अवर कोटि के प्रबंध भी काफी हैं । हिंदीतर विषयों (अंग्रेजी, संस्कृत, दर्शन, इतिहास आदि) की डॉक्टरेट उपाधियों के लिए स्वीकृत शोधप्रबंधों की अवस्था भी ऐसी ही है । उनके अनुशीलन से यही धारणा दृढ़ होती है कि अन्य विषयों की तुलना में हिंदी में किये गये गवेषणात्मक अध्ययन का स्तर घटिया नहीं है । फिर भी हिंदी-अनुसंधान की निकृष्टता की ही चर्चा अधिक की जाती है । इसके अनेक कारण हैं । (१) हिंदी के बहुत-से शोधप्रबंध मुद्रित होकर प्रकाश में आ जाते हैं । यह मानव-स्वभाव है कि जो वस्तु उसके दृष्टिपथ में आती है वह उसकी चर्चा का विषय बन जाती है । गुणों की अपेक्षा दोष अधिक स्पष्टतया दिखायी देने लगते हैं । (२) क्षेत्र की व्यापकता, लोकप्रियता और साहित्यिक

विशेषता के कारण हिंदी के शोधप्रबंध अधिकाधिक पाठकों के लिए आकर्षण की वस्तु हैं। अतः वे अधिक लोगों के आलोच्य विषय बन जाते हैं। (३) हिंदी लेकर एम० ए० करने वाले विद्यार्थियों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है, तदनुसार शोधार्थियों और शोधप्रबंधों की भी। उसी अनुपात से अच्छे-बुरे शोधप्रबंधों की संख्या भी अधिक है। कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र-जैसे विषय के विद्यार्थियों की संख्या हिंदी के विद्यार्थियों से कम नहीं है, परंतु वहाँ शोधकर्ताओं की इतनी भीड़ नहीं है—यह उनकी ईदृक्ता (स्टैन्डर्ड) की श्रेष्ठता का द्योतक है। इसका उत्तर यह है कि अर्थशास्त्र आदि विषयों में अनुसंधाताओं की कम संख्या का कारण उन विषयों में अनुसंधान के स्तर की उच्चता नहीं है। वास्तविकता यह है कि प्रायः प्रत्येक उपाधिकांक्षी अनुसंधाता का मुख्य प्रयोजन अर्थोपार्जन है। यदि डॉक्टरेट-प्राप्ति के पूर्व ही वह मनोरथ सिद्ध हो जाए तो फिर साँसत सहने की क्या आवश्यकता ? अर्थशास्त्र आदि के अनुसंधान-योग्य अधिकांश विद्यार्थियों को एम०ए० पास करते ही कोई अर्थप्रद काम मिल जाता है। इसलिए, अनुसंधान की ओर उनकी प्रवृत्ति कम होती है। इत्यादि।

हिंदी-अनुसंधान के शुक्लपक्ष के साथ ही उसका कृष्णपक्ष भी है। चाहे जिस कारण से भी हों, दोष तो दोष ही रहेंगे। उन पर पर्दा डालने से काम नहीं चल सकता। उन्हें दूर करना ही श्रेयस्कर है। हिंदी में ऐसे भी अनेक शोधप्रबंध लिखे गये हैं जिनके विषय स्पष्टतया निर्धारित नहीं हैं; जिनमें इधर-उधर से प्रामाणिक और अप्रामाणिक, ग्राह्य और त्याज्य, साहित्यिक और असाहित्यिक, अनुसंधेय और अननुसंधेय ढेर-सी सामग्री जोड़-बटोरकर एक भारी-भरकम पोथा, एक भानुमती का पिटारा, तैयार कर दिया गया है; जिनमें तथ्यों की वैज्ञानिक छानबीन नहीं की गयी है, उनके संबंध का यथोचित आख्यान नहीं किया गया है; जिनमें विषय का संतुलित एवं व्यवस्थित प्रतिपादन और सत्यों की तर्कसंगत प्रस्थापना नहीं है; जिनमें दिये गये उद्धरण अ-सत्यापित एवं अशुद्ध हैं; जिनके संदर्भोल्लेख अप्रामाणिक, अपूर्ण और कहीं-कहीं पूर्णतः अदृश्य हैं; जिनकी ग्रंथ-सूची किसी पुस्तक-विक्रेता की पुस्तक-सूची से अधिक ज्ञान-वृद्धि नहीं करती। सत्य-निष्ठा और ईमानदारी की कमी चिंता का विषय है।

बिंबसार और बिंदुसार में तथा अजातशत्रु और अशोक में अद्वैतता प्रकल्पित करना, गौतम बुद्ध और अशोक को समकालीन कहना, उपलब्ध तथ्यों की अपेक्षित परीक्षा न करके किसी कवि को कवयित्री मान लेना, भारतीय दर्शन की बाल-पोथी को भी पढ़ने का कष्ट न करके स्वमनीषा से ही मध्व के दर्शन को द्वैताद्वैत-वादी घोषित करना, 'भारतीय दर्शन' को पं० बलदेव प्रसाद मिश्र की रचना समझना और उस पर दृष्टिपात किये बिना ही अपने शोधप्रबंध की सहायकग्रंथ-सूची में उसको संनिविष्ट कर लेना, किसी स्वमनःकल्पित रचना को किसी साहित्य-

कार की (वह भी जीवित तथा प्रसिद्ध साहित्यकार की) कृति बतलाना, सूरदास के **भ्रमरगीत** का रचना-काल संवत् १३५५ तथा समाप्ति-काल संवत् १३५८ निर्धारित करना, आदि—ऐसी त्रुटियाँ सत्य से इतनी दूर हैं कि वे अनुसंधान की प्रतिष्ठा को भयंकर धक्का पहुँचाती हैं।

इस प्रसंग में, डा० हरवंशलाल शर्मा द्वारा की गयी हिंदी-अनुसंधान की आलोचना के कुछ अंश उद्धरणीय हैं—"शोधप्रबंधों में अधिकांश ऐसे मिलते हैं जिनमें विषय को व्यर्थ ही द्रौपदी के चीर का रूप दिया जाता है। यहाँ तक कि कुछ में तो विषय-प्रतिपादन 'शीर्षक' से भिन्न ही मिला है। मूल विषय पर ठोस रूप में लिखे हुए शोधप्रबंध बहुत कम हैं।...आज का अनुसंधित्सु शोध और आलोचना में अंतर ही नहीं समझता। अधिकतर शोधप्रबंध आलोचनात्मक पुस्तकों के रूप में लिखे हुए मालूम पड़ते हैं। यदि संपूर्ण शोधप्रबंध पढ़ने के उपरांत यह देखा जाय कि शोधार्थी ने विषय-संबद्ध कितना लिखा है तो पूरे ग्रंथ का चतुर्थांश ही ठिकाने का मिलेगा"।

समस्याएँ और सुझाव—हिंदी-अनुसंधान के इतिहास में उसके वरिष्ठ शोध-संचालक डा० धीरेन्द्र वर्मा का नाम अविस्मरणीय है। हिंदी-अनुसंधान को डा० वर्मा और उनके शिष्यप्रशिष्यों का योगदान इयत्ता और ईदृक्ता की दृष्टि से असाधारणतया अपना विशिष्ट स्थान रखता है। शोध-संबंधी समस्याओं और उनके समाधायक उपायों की चर्चा के प्रसंग में डा० वर्मा के एक अर्थगौरवशाली पत्र का निम्नांकित उद्धरण निस्संदेह उपयोगी सिद्ध होगा—

"कुछ वर्षों से मेरा ध्यान इस ओर गया है कि हिंदी खोज के स्तर को यदि ठीक रखना है और ऊपर उठाना है, तो परिषद् जैसी संस्था को इस संबंध में भी गंभीरता से विचार करना होगा। निःसंदेह हिंदी में कुछ खोजकार्य अत्यन्त उच्च स्तर का हुआ है और हो रहा है। किंतु ऐसे भी पर्याप्त उदाहरण दिए जा सकते हैं कि अक्सर अनुसंधानकर्ता तथा कुछ निरीक्षक भी स्पष्टतया यह नहीं समझते हैं कि एक थीसिस की सीमाएँ तथा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए। एक अच्छे आलोचनात्मक अध्ययन और मौलिक खोज पर आधारित प्रबंध में प्रायः अंतर नहीं किया जा रहा है। कभी-कभी साधारण ग्रंथ तथा थीसिस की शैली के भेद को भी ठीक से नहीं समझा जाता है। अनुसंधान-कार्य के अनुभव और संयम से होकर गुजरने के बाद एक स्कॉलर के सोचने के ढंग तथा विचारों को प्रकट करने की शैली में किस प्रकार का अन्तर हो जाना चाहिए यह प्रायः स्पष्ट नहीं है। ये बातें मैं गत अनेक वर्षों के व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ। अब भी भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के कम-से-कम दर्जन-डेढ़ दर्जन थीसिस तो प्रतिवर्ष मेरी दृष्टि से गुज़र ही जाते हैं, अन्य प्रकाशित तथा अप्रकाशित थीसिस भी अक्सर देखता रहता हूँ। मेरी धारणा है कि यदि आप लोगों ने विचार करके हिंदी भाषा और साहित्य के खोज-कार्य को इस समय ठीक मोड़ नहीं दिया तो निकट भविष्य

में इस महत्त्वपूर्ण कार्य को भारी धक्का लग सकता है। अच्छा यह होगा कि आप और हिंदीखोज का संचालन करनेवाले आठ-दस अन्य सीनियर हिंदी अध्यापक (केवल प्रोफ़ेसर और अध्यक्ष ही नहीं) पहले एक कमेटी बनाकर समस्त विश्व-विद्यालयों के हिंदी विभागों से प्रश्नों के उत्तर के रूप में सुझाव मंगवाएँ, फिर उन उत्तरों के आधार पर इस समस्या के समस्त पहलुओं पर गंभीरता से विचार करें और अन्त में स्थिति को सुधारने के संबंध में निश्चित प्रस्ताव दें।"[1]

हिंदी के संमान्य शुभचिंतक डॉ० वर्मा ने, अनुसंधानकर्ताओं एवं पर्यवेक्षकों की शोधसंबंधी अनभिज्ञता और अनुसंधान के क्षेत्र में आलोचनावाद के घातक प्रभाव की ओर संकेत करते हुए, हिंदी-अनुसंधान के स्तर के विषय में जो चिंता व्यक्त की है, उसकी ओर ध्यान देना प्रत्येक शोधसंचालक का आवश्यक कर्तव्य है। अनुसंधित्सुओं की बढ़ती हुई संख्या, विषयों की पुनरावृत्ति और नवीन विषयों की खोज, योग्य पर्यवेक्षकों की कमी, सामग्री और साधनों की उपलब्धि, शोध-प्रबंधों के स्तर में गिरावट आदि से संबंध रखनेवाली समस्याओं का समाधान असंभव नहीं है।

सामान्य रूप से शिक्षा के प्रसार और विशेष रूप से हिंदी के प्रचार के साथ ही हिंदी-अनुसंधित्सुओं की संख्या बढ़ रही है और बढ़ेगी। यह कोई चिंता की बात नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि शोधकार्य का यथोचित संचालन किया जाए, विद्यार्थियों की निष्पक्ष परीक्षा के योग्य मानदंडों की व्यवस्था की जाए, परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों के ज्ञानमार्ग को कहीं भी अवरुद्ध न होने दिया जाए, अनुसंधित्सुओं को अनुसंधानशास्त्र में प्रशिक्षित किया जाए और उनसे उत्तम कोटि के शोधप्रबंध लिखाये जाएँ।

तृतीय प्रकरण में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि हिंदी में शोधविषयों के आसन्न अकाल की आशंका निर्मूल है। विषयों की कमी नहीं है। हिंदी भाषा और साहित्य के विविध क्षेत्रों में अनुसंधान करने का विस्तृत अवकाश है। अनु-संधित्सुओं की रुचि और शक्ति के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों से अनगिनत नये विषय लिये जा सकते हैं। यदि कोई अनुसंधाता अपने मौलिक योगदान से पूर्ववर्ती अध्य-यन को यथेष्ट सीमा तक अग्रसर करता है, तो विषयों की पुनरावृत्ति भी सिद्धां-ततः अनुचित नहीं है।

पर्यवेक्षकों की समस्या सुलझाने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि अनुसंधान-विशेषज्ञ अध्यापकों की योग्यता का पूरा सदुपयोग किया जाए। अधिकारी अध्या-

---

१. भारतीय हिंदी परिषद् के संरक्षक डा० धीरेन्द्र वर्मा का परिषद् के सभापति डा० नगेन्द्र के नाम एक महत्त्वपूर्ण पत्र (दिसम्बर, १९६१ ई० में भारतीय हिंदी परिषद् के कलकत्ता-अधि-वेशन के अवसर पर लिखित एवं प्रकाशित)

पकों को प्रशिक्षित करके समर्थ पर्यवेक्षक होने योग्य बनाया जाए। वरिष्ठ अध्यापक विशेष रूप से अनुसंधान का और कनिष्ठ अध्यापक विशेष रूप से अध्यापन का कार्य करें। रिसर्च-प्रोफ़ेसरों (कम-से-कम रीडरों) की नियुक्ति का प्रयत्न किया जाए। पर्यवेक्षण के लिए विश्वविद्यालय के बाहर के विद्वानों का सहयोग भी प्राप्त किया जा सकता है। पुस्तकालयों की संपन्नता तथा साधनों और सुविधाओं का प्रश्न विश्वविद्यालयों के व्यवस्थापकों के सहयोग से हल किया जाए। स्तर की गिरावट के कारण सर्वविदित हैं। शक्तिमानों की न्यायनिष्ठता से ही उन निदानों का निरोध संभव है। हिंदी-अनुसंधान को उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों के शोधसंचालकों का सामूहिक प्रयत्न अपेक्षित है।

डॉ० वर्मा ने अपने उक्त पत्र में हिंदी-अनुसंधान के व्यवस्थित संचालन एवं भावी कार्यक्रम की ओर इंगित किया है। इस विषय में अनेक सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनके कार्यान्वयन से हिंदी-शोधकार्य प्रशस्यतर भूमि पर प्रतिष्ठित हो सकेगा—

१. भारतीय हिंदी-परिषद् के तत्त्वावधान में अथवा स्वतंत्र रूप से एक अंतर-विश्वविद्यालय हिंदी-अनुसंधान-परिषद् की स्थापना की जाए जिसमें उन सभी विश्वविद्यालयों के सदस्य संमिलित हों जिनमें हिंदी-अनुसंधान की व्यवस्था है अथवा होनेवाली है। इस परिषद् की प्रतिवर्ष कम-से-कम एक बैठक अवश्य हो। उसमें हर विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि अपने यहाँ संपन्न और संपद्यमान शोधकार्य का विवरण प्रस्तुत करें। हिंदी-अनुसंधान के विभिन्न पहलुओं, समस्याओं और अवलंबनीय उपायों पर समाहित चित्त से विचार किया जाए। तदनुसार शोधसंचालन में उचित सुधार किये जाएँ। हिंदी ही नहीं, उन हिंदीतर-विभागों (संस्कृत, अंग्रेजी, दर्शन, इतिहास आदि) के साथ भी संपर्क रखा जाए जिनमें हिंदी-संबंधी विषयों पर अनुसंधान कराया जाता है। इस प्रकार के संपर्क से विषयों की अनावश्यक पुनरावृत्ति नहीं होगी, और ज्ञान का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार होगा।

२. हिंदी-अनुसंधान के दो स्पष्ट विभाग कर लिए जाएँ—१. सामान्य अनुसंधान (जैसे—कवियों की काव्यकला, प्रवृत्तियों का विकास आदि) और २. विशिष्ट अनुसंधान (जैसे—भाषावैज्ञानिक शोध, पाठानुसंधान, काव्यशास्त्रानुशीलन आदि)। सामान्य अनुसंधान तो किसी भी विश्वविद्यालय में कराया जाए, किंतु विशिष्ट अनुसंधान भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में अनुसंधेय सामग्री की सुलभता, साधनों की उपलब्धता एवं पर्यवेक्षकों की विशेषज्ञता के आधार पर परस्परसहयोगपूर्वक आयोजित किया जाए। उदाहरण के लिए—प्रयाग, वाराणसी, राजस्थान आदि विश्वविद्यालयों में पाठानुसंधान पर, और सागर, जबलपुर, क० मुं० हिंदी-विद्यापीठ (आगरा), लखनऊ आदि विश्वविद्यालयों में भाषावैज्ञानिक अनुशीलन पर विशेष ध्यान दिया जाए।

३. हिंदी के अनुसंधित्सुओं, अनुसंधाताओं तथा पर्यवेक्षकों के समीचीन प्रशिक्षण के लिए नियमित रूप से प्रतिवर्ष अनुसंधान-गोष्ठी की व्यवस्थित आयोजना की जाए। उसमें अनुसंधान के स्वरूप और प्रविधि-प्रक्रिया आदि पर शोधविशेषज्ञ विद्वानों के व्याख्यान कराये जाएँ। व्याख्याताओं का चुनाव ज्ञान के आधार पर किया जाए। सभी अनुसंधाताओं और प्राध्यापकों को उस गोष्ठी से लाभ उठाने का अवसर दिया जाए। उस क्रम के अंतर्गत उपगोष्ठियों की योजना भी की जाए, उदाहरणार्थ—पाठालोचन, काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान, आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिश्रृंगारकाल आदि पर अलग-अलग छोटी-छोटी गोष्ठियाँ भी आयोजित की जाएँ जिनमें तत्तत्संबंधी अनुसंधाताओं एवं पर्यवेक्षकों की समस्याएँ वरिष्ठ अनुसंधान-विशेषज्ञों द्वारा सुलझायी जा सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि गोष्ठियों के अवसर पर उपदिष्ट सिद्धांतों का शोधप्रबंधों की संस्तुति करते समय धर्मबुद्धि से निर्वाह भी किया जाए।

४. हिंदी-अनुसंधान की सामग्री के प्रामाणिक विवरण का प्रकाशन अनुसंधान की बहुत बड़ी आवश्यकता है। काशी नागरीप्रचारिणी सभा आदि ने इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। परंतु, वह पर्याप्त नहीं है। विश्वविद्यालयों को भी इस ओर ध्यान देना चाहिए। विभिन्न क्षेत्रों के विश्वविद्यालय (अर्थात् हिंदी-विभाग) अपने-अपने क्षेत्र की अप्रकाशित सामग्री का विवरण तैयार करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लें और निश्चित अवधि में इस आवश्यक कार्य को संपन्न करें। अपेक्षानुसार प्रकाशकों या सरकार की सहायता से उन विवरणों को प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाए।

५. एक केंद्रीय हिंदी-अनुसंधान-भवन की स्थापना भी हिंदी-अनुसंधान की आवश्यकता है। यदि अनुसंधाताओं को हिंदी-शोधविषयक समस्त सामग्री एकत्र सुलभ हो सके तो उन्हें कार्य करने में विशेष सुविधा होगी। उस भवन में सभी प्रकार की अनुसंधानोपयोगी सामग्री का संग्रह होना चाहिए—हिंदी के प्रकाशित ग्रंथ, संस्कृत, अँगरेजी आदि के आकर-ग्रंथ, हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ या फ़ोटो-प्रतियाँ, प्रत्येक स्वीकृत शोधप्रबंध की एक प्रति, इत्यादि। एक स्थायी निदेशक भी होना चाहिए जो अनुसंधाओं की समस्याओं का तत्काल समाधान कर सके। यह कार्य दुस्साध्य है, किंतु समर्थ शोधसंचालकों के नेतृत्व में किये गये सामूहिक उद्योग से साध्य हो सकता है।

६. हिंदी के अनुसंधित्सुओं, अनुसंधाताओं, पर्यवेक्षकों एवं परीक्षकों की जानकारी के लिए हिंदी-अनुसंधान-विषयक सूचना का नियमित क्रम से प्रकाशन होना चाहिए। 'हिंदी-अनुशीलन' इस दिशा में कुछ कार्य करता रहा है, लेकिन वह यथेष्ट नहीं है। प्रत्येक सत्र के आरंभ में (जुलाई में) उसके एक ऐसे विशेषांक का नियमित प्रकाशन होना चाहिए जिसमें पिछले संपूर्ण सत्र की अवधि में विभिन्न

विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत शोधप्रबंधों एवं शोध-विषयों की पूर्ण सूची दी जाए। इस प्रकार के प्रकाशन के द्वारा अनुसंधान-प्रेमी हिंदी-शोधकार्य की नवीनतम प्रगति से अभिज्ञ रहा करेंगे।

७. हिंदी में इतने शोधप्रबंध लिखे जा चुके हैं और लिखे जा रहे हैं कि सभी व्यक्तियों के लिए सभी शोधप्रबंधों का अनुशीलन संभव नहीं है। हिंदी-अनुसंधान में सक्रिय भाग लेने वालों के लिए उनमें प्रतिपादित वस्तु से परिचित होना भी आवश्यक है। अतएव, हिंदी में ऐसे संग्रह-ग्रंथों के प्रकाशन की भी अपेक्षा है जिनमें लगभग पचीस-तीस पृष्ठों में स्वयं अनुसंधाता द्वारा अपने शोधप्रबंध का सार दिया गया हो। विभिन्न विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग और अंतर-विश्वविद्यालय बोर्ड इस उद्देश्य की आंशिक पूर्ति ही कर सकते हैं, और वह भी बहुत विलंब से।

अनुसंधान सत्य का अन्वेषण है। सत्यनिष्ठा और मायिकता में 'केर-बेर' का संबंध है। अनुसंधान ज्ञान का प्रसारक है। प्रपत्ति से उसका मौलिक विरोध है। अनुसंधान समाहित अंतःकरण का व्यापार है। आतंकवाद से उसका उन्नयन नहीं हो सकता। काल-चक्र वेग से चल रहा है। परिस्थितियों का आग्रह है कि हिंदी के संमान्य शोधसंचालक आवश्यकताओं के अनुसार हिंदी-अनुसंधान की सुविचारित एवं सुव्यवस्थित योजनाएँ तैयार करें, उन्हें यथासंभव सुचारु रूप से कार्यान्वित करें, और हिंदी के उच्चतम अध्ययन को उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करें।

अनुबंध

विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिंदी-संबंधी अनुसंधान के लिए स्वीकृत विषयों की विस्तृत सूची

अनुबंध

स्वीकृतविषय-सूची

इस सूची में दो प्रकार के विषय परिगणित हैं—१. जिन पर शोधकार्य हो चुका है, और २. जिन पर शोधकार्य हो रहा है। दोनों का ही वर्गीकरण एक साथ है। जिन पर शोधकार्य संपन्न हो चुका है उनके सामने शून्य के अंक लगे हुए हैं। उनके विवरण के लिए क्रमशः देखिए—**हिंदी के स्वीकृत शोधप्रबंध,**[1] **द्वितीय संस्करण, अनुबंध २**। यह सूची २१ वर्गों में विभाजित है। अव्याप्ति आदि दोषों से मुक्त सर्वथा वैज्ञानिक वर्गीकरण संभव नहीं है। अनेक विषय ऐसे हैं जो एक से अधिक वर्गों में रखे जा सकते हैं। 'सूर की भाषा' भाषा-संबंधी अध्ययन भी है और विशिष्ट साहित्यकार का भी। 'हिंदी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव' आदि विषय भी ऐसे ही हैं। एक विषय एक ही वर्ग के अंतर्गत रखा गया है। जिज्ञासु पाठकों से निवेदन है कि वे पूरी सूची देख जाएँ। जिन विषयों पर कार्य संपन्न नहीं हुआ है, उनके सामने विश्वविद्यालय का नामोल्लेख कर दिया गया है। इस पुस्तक की समाप्ति के बाद भी बहुत-से शोधप्रबंध और विषय स्वीकृत हुए होंगे। उनकी सूचना आगामी संस्करण में ही दी जा सकेगी।

वर्ग १—पाठानुसंधान

१. मलिक मुहम्मद जायसी के 'पदमावत' का सटिप्पण संपादन और अनुवाद—१६वीं शताब्दी की हिंदी भाषा (अवधी) का अध्ययन — ०
२. ऋषि बरकत उल्लाह पेमी-कृत 'पेमप्रकाश' का अनुसंधान, संपादन और अध्ययन — ०
३. कबीर (ग्रंथावली) का पाठ — ०
४. पृथ्वीराजरासो के लघुतम संस्करण का अध्ययन और उसके पाठ का आलोचनात्मक संपादन — ०
५. तुलसीदास की कृतियों की पाठ-समस्याओं का अनुशीलन — काशी
६. बीसलदेवरासो—पाठ, अध्ययन एवं विवेचन — ०

---

१. प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

७. भक्तमाल और भक्तमाल पर लिखी प्रियदास की टीका का पाठ तथा पाठसंबंधी समस्या — प्रयाग
८. देव के लक्षण-ग्रंथों का पाठ तथा तत्संबंधी पाठालोचन की समस्याएँ — ०
९. संतरेणु के नानकविजय का पाठ-निर्धारण—आलोचनात्मक भूमिका के सहित — पंजाब
१०. भाई गुरुदास के काव्यपाठ का आलोचनात्मक संपादन—आलोचनात्मक भूमिका के सहित — पंजाब
११. मेहरामणसिंह-कृत प्रवीणसागर का आलोचनात्मक अध्ययन एवं संपादन — बड़ौदा

वर्ग २—भाषा-संबंधी अध्ययन

१. आधुनिक हिंदी भाषा का विकास — नागपुर
२. परिनिष्ठित हिंदी का स्वरूप — प्रयाग
३. हिंदुस्तानी ध्वनियों का अनुसंधान — ०
४. हिंदी भाषा का ध्वनिमूलक अनुसंधान — ०
५. ध्वनिविज्ञान तथा हिंदी-ध्वनियाँ — विक्रम
६. हिंदी की ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन — आगरा
७. हिंदी में शब्द और अर्थ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन — ०
८. हिंदी-अर्थविज्ञान — ०
९. हिंदी-अर्थ-विचार — ०
१०. हिंदी भाषा में अक्षर तथा शब्द की सीमा — आगरा
११. हिंदी में व्याकरणिक श्रेणियाँ (Grammatical categories)—एक आलोचनात्मक अध्ययन — आगरा
१२. हिंदी-मुहावरे — ०
१३. हिंदी-मुहावरों का विकास — कलकत्ता
१४. हिंदी-साहित्य में प्रयुक्त मुहावरों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१५. हिंदी-काव्य में लोकोक्तियाँ — आगरा
१६. हिंदी-भाषा के रागात्मक तत्त्व — आगरा
१७. राजस्थान के हिंदी-अभिलेखों (सन् ११५०–१७५०) का पुरालिपि-संबंधी (पौलियोग्राफ़िकल) और भाषावैज्ञानिक अध्ययन — ०
१८. प्राचीन हिंदी के नाम-रूप — लखनऊ
१९. साहित्यिक हिंदी—परिष्कार या आदर्शीकरण की स्थितियाँ — पंजाब
२०. हिंदी-व्याकरण-रचना-शास्त्र का उद्भव और विकास — पटना
२१. हिंदी-समास-रचना का अध्ययन — आगरा

२२.	संधि और हिंदी	आगरा
२३.	प्रारंभिक हिंदी-गद्य का ऐतिहासिक वाक्यविचार	०
२४.	हिंदी-सर्वनामों का विकास	राँची
२५.	हिंदी-वाक्य-रचना	आगरा
२६.	हिंदी-विभक्ति-परसर्गों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन	काशी
२७.	हिंदी-भाषा का रूपवैज्ञानिक तथा वाक्यवैज्ञानिक अध्ययन	०
२८.	हिंदी-लिंग-निर्णय	आगरा
२९.	हिंदी-क्रियाओं का अध्ययन	प्रयाग
३०.	हिंदी की संयुक्तक्रियाएँ	काशी
३१.	हिंदी में प्रत्यय-विचार	०
३२.	हिंदी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का अर्थवैज्ञानिक अध्ययन (संस्कृत-विभाग)	०
३३.	संस्कृतमूलक हिंदी-गणितीय शब्दावली का ऐतिहासिक,सांस्कृतिक तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययन	०
३४.	हिंदी की सामाजिकी-संबंधी पारिभाषिक शब्दावली का आलोचनात्मक अध्ययन	दिल्ली
३५.	हिंदी में विधि-शब्दावली	लखनऊ
३६.	हिंदी में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का इतिहास	पटना
३७.	कृषि तथा ग्रामोद्योग की शब्दावली—एक अध्ययन	०
३८.	हिंदी के विशिष्ट संदर्भ में प्राकृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	पटना
३९.	हिंदी की मूल शब्दावली का अध्ययन	प्रयाग
४०.	परिनिष्ठित हिंदी में प्रयुक्त संस्कृत-शब्दों का अर्थ-परिवर्तन	०
४१.	हिंदी-भाषा में देशज शब्द	दिल्ली
४२.	हिंदी-भाषा पर फ़ारसी और अंग्रेजी का प्रभाव	काशी
४३.	हिंदी के फ़ारसी से आगत शब्दों का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	आगरा
४४.	हिंदी में अंग्रेजी से आगत शब्दों का भाषातात्त्विक अध्ययन	०
४५.	अवधी का विकास	०
४६.	जायसीपूर्व अवधी	काशी
४७.	बैसवाड़ी का शब्द-सामर्थ्य	०
४८.	बैसवाड़े की जनपदीय भाषा	आगरा
४९.	बैसवाड़ी बोली का वर्णनात्मक विश्लेषण	लखनऊ
५०.	पूर्वी हिंदी की बैसवाड़ी बोली का विवरणात्मक अध्ययन	प्रयाग
५१.	अवधी और भोजपुरी के सीमाप्रदेश की बोली का अध्ययन	०
५२.	कन्नौजी और उसका लोकसाहित्य	लखनऊ
५३.	ब्रजभाषा	०

५४. सूर-पूर्व ब्रजभाषा (और उसका साहित्य) ०
५५. ब्रजबुली (ब्रजभाषा और ब्रजबुली का तुलनात्मक अध्ययन) ०
५६. गत सौ वर्षों में कविता के माध्यम के लिए ब्रजभाषा-खड़ीबोली-संबंधी विवाद की रूपरेखा ०
५७. ब्रजभाषा एवं बुंदेलखंडी का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
५८. ब्रजभाषा और खड़ीबोली के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन ०
५९. ब्रजभाषा और खड़ीबोली की ध्वन्यात्मक रचना का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
६०. खड़ीबोली का आंदोलन ०
६१. खड़ीबोली का उद्भव और विकास अलीगढ़
६२. आरंभिक खड़ीबोली-गद्य का व्यावहारिक अध्ययन पटना
६३. खड़ीबोली-भाषा-भाषी ग्रामों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द—विशेषतः मेरठ तथा बिजनौर के आधार पर लखनऊ
६४. खड़ीबोली (मेरठ जनपद) के लोकगीतों का भाषावैज्ञानिक (वर्णनात्मक) अध्ययन आगरा
६५. खड़ीबोली हिंदी के क्रियापदों का भाषाशास्त्रीय अध्ययन आगरा
६६. खड़ीबोली (बोली-रूप) के विकास का अध्ययन ०
६७. साहित्यिक खड़ीबोली का विकास (१८००ई० तक) दिल्ली
६८. खड़ीबोली (बोली) और साहित्यिक खड़ीबोली का तुलनात्मक अध्ययन प्रयाग
६९. दिल्ली नगर में आजकल प्रयुक्त खड़ीबोली के विभिन्न रूप दिल्ली
७०. मेरठ जिले के अंतर्गत तहसील बागपत की खड़ीबोली का भाषावैज्ञानिक अध्ययन अलीगढ़
७१. खड़ीबोली की वाक्य-रचना आगरा
७२. खड़ीबोली हिंदी का वाक्यविज्ञान काशी
७३. दक्खिनी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन कलकत्ता
७४. दक्खिनी का रूपविन्यास ०
७५. दक्खिनी गद्य—१७वीं शताब्दी के बाद उस्मानिया
७६. हिंदी तथा उर्दू का तुलनात्मक अध्ययन पटना
७७. भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति और विकास ०
७८. भोजपुरी लोकोक्तियों का अध्ययन आगरा
७९. भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनिप्रक्रिया का अध्ययन ०
८०. प्रमुख बिहारी बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन राँची
८१. बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास ०
८२. बिहार के बाढ़ प्रदेश में बोली जानेवाली मगही का ध्वनिशास्त्रीय

क्रम	विषय	विश्वविद्यालय
	अध्ययन	पटना
८३.	मैथिली भाषा का विकास	०
८४.	पटना तथा गया की मगही का ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक अध्ययन	पटना
८५.	अपभ्रंश भाषा का ध्वन्यात्मक, रूपात्मक तथा अर्थ-संबंधी अध्ययन	पटना
८६.	अपभ्रंश—हिंदी-व्याकरण के आधार-रूप में	पटना
८७.	राजस्थानी भाषा और साहित्य (११वीं से १६वीं शती)	०
८८.	राजस्थानी कहावतों की गवेषणा और वैज्ञानिक अध्ययन	०
८९.	राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति और विकास	आगरा
९०.	कन्नौजी बोली का अनुशीलन तथा ठेठ ब्रज से तुलना	०
९१.	मथुरा जिले की बोलियाँ	०
९२.	पूर्णिया अंचल का भाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण	पटना
९३.	मालवी भाषा और उसका स्वरूप	आगरा
९४.	मालवी की उत्पत्ति और विकास	विक्रम
९५.	रुहेली बोली और उसका रूपात्मक अध्ययन	आगरा
९६.	कठेरी-मेवाती का वर्ण और रूप विन्यास	आगरा
९७.	मुंडारी—एक भाषा-सर्वेक्षण	रांची
९८.	भीली भाषा का शास्त्रीय अध्ययन	विक्रम
९९.	हरियानी भाषा का उद्भव और विकास	पंजाब
१००.	हरियानी भाषा का भाषावैज्ञानिक अध्ययन	दिल्ली
१०१.	कुमायूंनी बोली का वर्णनात्मक विश्लेषण	लखनऊ
१०२.	कुमायूंनी और उसकी बोलियों का अध्ययन	आगरा
१०३.	कूर्मांचल प्रदेश की औद्योगिक शब्दावली	लखनऊ
१०४.	मध्य-पहाड़ी भाषा (गढ़वाली-कुमायूंनी) का अनुशीलन और उसका हिंदी से संबंध	०
१०५.	गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य	०
१०६.	गढ़वाली का शब्द-सामर्थ्य	०
१०७.	गढ़वाली की रावल्टी उपबोली, उसके लोकगीत और उसमें अभिव्यक्त लोकसंस्कृति	०
१०८.	सिराजी बोलियाँ (पहाड़ी भाषा) एक भाषावैज्ञानिक अध्ययन	पंजाब
१०९.	पश्चिमी पहाड़ी के अंडी भाषा-परिवार	पंजाब
११०.	पश्चिमी पहाड़ी बोली की कंथाली बोली का रूपात्मक अध्ययन	पंजाब
१११.	जौनसारी और सिरमौरी भाषा तथा उनका लोकसाहित्य	आगरा
११२.	पश्चिमी पहाड़ी की जौनसारी बोली का रूपरेखात्मक वर्णन	आगरा

११३. कुल्लू की बोली का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — पंजाब
११४. डोगरी भाषा का वर्णनात्मक व्याकरण और डोगरी-शब्दकोश — पंजाब
११५. अम्बालवी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — पंजाब
११६. खुरपल्टी—पदरूपांश तथा वाक्य — ०
११७. बाँगरू भाषा का वर्णनात्मक व्याकरण — ०
११८. बाँगरू की वर्णनात्मक ध्वनिप्रक्रिया — पंजाब
११९. बिजनौर की बोली का वर्णनात्मक विश्लेषण — आगरा
१२०. मेरठ जिले की बोलियों का वैज्ञानिक अध्ययन — आगरा
१२१. अलीगढ़ और बुलंदशहर जिले की बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१२२. बुलंदशहर जनपद की बोली — आगरा
१२३. बुलंदशहर और खुर्जा तहसील की बोलियों का अध्ययन — प्रयाग
१२४. प्रतापगढ़ जिले की बोलियों के भौगोलिक विभाजन — प्रयाग
१२५. प्रतापगढ़ जिले की बोली का वर्णनात्मक अध्ययन — प्रयाग
१२६. गोरखपुर जिले की बोली का वर्णनात्मक अध्ययन — प्रयाग
१२७. एटा जिले की अलीगंज तहसील की बोलियों का रूपात्मक अध्ययन — आगरा
१२८. आगरा जिले की बोली का अध्ययन — ०
१२९. आगरा के लोककाव्य का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — आगरा
१३०. इलाहाबाद जिले की कृषि-संबंधी शब्दावली का अध्ययन — ०
१३१. निमाड़ी और उसका लोकसाहित्य — ०
१३२. बुंदेली भाषा का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — ०
१३३. बुंदेली बोली का विकास — प्रयाग
१३४. बुंदेलखंड प्रदेश की लोकोक्तियाँ कहावतें, मुहावरे तथा अन्य सांस्कृतिक उपादान — आगरा
१३५. हड़ौती बोली और उसका साहित्य — राजस्थान
१३६. बागरी बोली का वर्णनात्मक विश्लेषण — लखनऊ
१३७. कुरमाली बोली का भाषा-विषयक अध्ययन — शांतिनिकेतन
१३८. लोअर गंगा दोआब क्षेत्र का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — लखनऊ
१३९. शेखावटी बोली का विश्लेषण — लखनऊ
१४०. मेवाड़ी बोली का उद्भव, विकास और रूप — राजस्थान
१४१. भारतीय आर्यभाषा-परिवार की मध्यवर्तिनी बोलियाँ—छत्तीसगढ़ी, हलबी, भतरी — ०
१४२. आजमगढ़ जिले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग-संबंधी शब्दावली का अध्ययन — ०

१४३. कृषक-जीवन-संबंधी शब्दावली (अलीगढ़-क्षेत्र की बोली के आधार पर) ०
१४४. कृषक-जीवन-संबंधी भोजपुरी-शब्दावली—गाजीपुर जिले की बोली के आधार पर आगरा
१४५. गाजीपुर जिले के लोकाचार और तत्संबंधी शब्दावली प्रयाग
१४६. मध्यकालीन हिंदी-साहित्य में प्रयुक्त व्यक्तिवाचक नामों का अध्ययन प्रयाग
१४७. हिंदी-प्रदेश के हिंदू पुरुषों के नामों का अध्ययन ०
१४८. हिंदी-प्रदेश की हिंदू महिलाओं के नामों का वैज्ञानिक अध्ययन विक्रम
१४९. बिहार के स्थान-नाम पटना
१५०. अवध की जातियों के नामों का अध्ययन प्रयाग
१५१. हिंदी-शब्द-समूह का अध्ययन प्रयाग
१५२. हिंदी-भाषा में पर्याय तथा अनेकार्थवाचक शब्द प्रयाग
१५३. हिंदी-भाषा में पर्यायवाची शब्दों का स्थान पंजाब
१५४. हिंदी की मौलिक शब्दावली प्रयाग
१५५. आदिकालीन हिंदी-साहित्य की भाषा का अध्ययन लखनऊ
१५६. रासो की भाषा ०
१५७. (गोरखबानी तथा नाथ-सिद्धों की बानियों के आधार पर) हिंदी-नाथ-साहित्य की भाषा आगरा
१५८. सिद्धों की संधा भाषा ०
१५९. समाज और संस्कृति की दृष्टि से मध्ययुगीन हिंदी-साहित्य (१४०० से १७०० ईसवी तक) की शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
१६०. कबीर-ग्रंथावली की भाषा काशी
१६१. कबीर की भाषा दिल्ली
१६२. कबीर की कृतियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन प्रयाग
१६३. कबीर की भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन आगरा
१६४. कबीर की दार्शनिक शब्दावली का सांस्कृतिक अध्ययन लखनऊ
१६५. हिंदी (ज्ञानाश्रयी) संत-साहित्य में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली भागलपुर
१६६. भक्तिकालीन हिंदी-संत-साहित्य की भाषा (संवत् १३७५-१७००) ०
१६७. अर्थविकास की दृष्टि से हिंदी संत-साहित्य के दार्शनिक और धार्मिक शब्दों का अध्ययन पंजाब
१६८. (मलिक मुहम्मद) जायसी की भाषा लखनऊ
१६९. मलिक मुहम्मद जायसी की भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन आगरा
१७०. (मलिक मुहम्मद) जायसी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन कलकत्ता

१७१. सूरदास की भाषा ०
१७२. सूरसागर की शब्दावली का अध्ययन ०
१७३. सूरदास की ब्रजभाषा का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन प्रयाग
१७४. अष्टछाप-कवियों की भाषा का अध्ययन लखनऊ
१७५. तुलसीदास की भाषा ०
१७६. काव्यशिल्प की दृष्टि से तुलसीदास के शब्द-समूह का अध्ययन प्रयाग
१७७. रामचरितमानस की पारिभाषिक शब्दावली का अनुशीलन आगरा
१७८. केशव की भाषा लखनऊ
१७९. केशव की भाषा वेंकटेश्वर
१८०. केशवदास की भाषा गोरखपुर
१८१. केशव की भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन आगरा
१८२. श्री एम० वी० जायसवाल के पाठ के आधार पर रामचंद्रिका का भाषावैज्ञानिक अध्ययन प्रयाग
१८३. बिहारी की भाषा लखनऊ
१८४. मुद्रित एवं अमुद्रित सामग्री के आधार पर बिहारी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन प्रयाग
१८५. महाकवि बिहारी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन अलीगढ़
१८६. घनानंद की भाषा का भाषावैज्ञानिक और काव्यशास्त्रीय अध्ययन आगरा
१८७. भूषण की भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन आगरा
१८८. भूषण की भाषा और उनके काव्य का अध्ययन लखनऊ
१८९. आधुनिक हिंदी-काव्य-भाषा का अनुशीलन सागर
१९०. आधुनिक हिंदी-कविता की भाषा विक्रम
१९१. आचार्य रामचंद शुक्ल की भाषा का साहित्यिक और भाषावैज्ञानिक अध्ययन आगरा
१९२. प्रसाद की भाषा विक्रम
१९३. प्रेमचंद की भाषा—साहित्यिक और भाषाशास्त्रीय अध्ययन आगरा
१९४. प्रेमचंद की भाषा दिल्ली
१९५. छायावाद की भाषा आगरा
१९६. छायावादी काव्य की भाषा दिल्ली
१९७. छायावादी काव्य-भाषा का विवेचनात्मक अनुशीलन भागलपुर
१९८. हिंदी और पंजाबी का रूपात्मक अध्ययन दिल्ली
१९९. आधुनिक गद्य-साहित्य के आधार पर हिंदी और मराठी के शब्द-समूह और मुहावरों का तुलनात्मक अध्ययन पूना
२००. खड़ीबोल (बोली) परिनिष्ठित हिंदी तथा पंजाबी का तुलनात्मक

अध्ययन प्रयाग

२०१. हिंदी तथा पंजाबी की ध्वनियों का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन पंजाब

२०२. हिंदी और पंजाबी का पद-विज्ञान : एक तुलनात्मक और ऐतिहासिक विश्लेषण पंजाब

२०३. हिंदी और मलयालम की रूप-रचना का तुलनात्मक अध्ययन आगरा

२०४. हिंदी और मलयालम की उभयनिष्ठ शब्दावली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन अलीगढ़

२०५. हिंदी और तेलुगू व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन आगरा

२०६. आधुनिक हिंदी और तमिल की व्याकरणिक रचना आगरा

२०७. आधुनिक हिंदी तथा तमिल की समान शब्दावली का अध्ययन आगरा

२०८. हिंदी की सांस्कृतिक शब्दावली का बँगला, गुजराती और मराठी की सांस्कृतिक शब्दावली के साथ तुलनात्मक अध्ययन दिल्ली

२०९. अर्थविज्ञान की दृष्टि से हिंदी एवं बँगला शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन भागलपुर

२१०. देवनागरी लिपि—ऐतिहासिक तथा भाषावैज्ञानिक अध्ययन ०

२११. अन्वीक्षक के स्वकीय वाक्-स्वभाव के आधार पर हकलाहट की वाक्-त्रुटियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन आगरा

२१२. आगरा-मंडल के उच्चतर-माध्यमिक कक्षा के हिंदी-छात्रों की भाषा-संबंधी अशुद्धियाँ तथा उनके निवारणार्थ उपयुक्त शिक्षा-योजना आगरा

वर्ग ३—विशिष्ट साहित्यकार और रचना

१. अक्षर अनन्य—एक अध्ययन लखनऊ

२. संत कवि अखा जी—जीवनी और हिंदी-कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन बड़ौदा

३. अनूप शर्मा—जीवन और साहित्य आगरा

४. अब्दुर्रहीम खानखाना—भारतीय इतिहास के स्रोत-रूप में (इतिहास-विभाग) ०

५. अब्दुर्रहीम खानखाना और उनका साहित्य अलीगढ़

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि—

६. (अयोध्यासिंह उपाध्याय) 'हरिऔध' : जीवनी और साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन ०

७. (अयोध्यासिंह उपाध्याय) 'हरिऔध' की कृतियों का अध्ययन नागपुर

८. अयोध्यासिंह उपाध्याय—काव्य-कला और आचार्यत्व आगरा

९. महाकवि (अयोध्यासिंह उपाध्याय) 'हरिऔध' के काव्य में रस और

रीति का प्रयोग — राजस्थान
१०. खड़ीबोली के साहित्यिक स्वरूप के विकास में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी के प्रयोग और उनका महत्त्व — आगरा
११. द्विवेदी-युग की पृष्ठभूमि में अयोध्यासिंह उपाध्याय के काव्य का विशेष अनुशीलन — सागर
१२. आलम का 'स्यामसनेही' — ०
१३. रीतिकाल में रीतिमुक्त काव्य और आलम का विशेष अध्ययन — लखनऊ
१४. आल्हा का साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व — आगरा
१५. दक्खिनी हिंदी की रचनाओं (इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय के शासन-काल में रचित 'इब्राहीमनामा' और 'किताब-ए-नवरस') का आलोचनात्मक अध्ययन — ०
१६. सूफ़ी कवि उस्मान और उनका काव्य — आगरा

कबीर आदि—

१७. कबीर तथा उनके अनुयायी — ०
१८. कबीर के काव्य-रूपों का आलोचनात्मक अध्ययन — अलीगढ़
१९. कबीर-साहित्य में प्रतीक-योजना — आगरा
२०. कबीर की विचारधारा — ०
२१. कबीर के दर्शन और काव्य के स्रोत — पटना
२२. संत कबीर की योगसाधना तथा उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि — पंजाब
२३. कबीरदास की दार्शनिक विचारधारा का आलोचनात्मक अध्ययन — ०
२४. कबीर-साहित्य में चित्रित भारत — पटना
२५. कबीर के बीजक की टीकाओं की दार्शनिक व्याख्या — ०
२६. सर्वज्ञ और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
२७. गोरखनाथ और कबीर—तुलनात्मक अध्ययन — लखनऊ
२८. नामदेव तथा कबीरदास का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
२९. कबीर एवं वेमन का तुलनात्मक अध्ययन — ०
३०. कबीर तथा येमन्ना का तुलनात्मक अध्ययन — पंजाब
३१. किशोरीलाल गोस्वामी—जीवनी और साहित्य—एक अध्ययन — ०
३२. किशोरीलाल गोस्वामी (१८४५-१९३२) और उनका साहित्य — आगरा
३३. किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों का वस्तुगत और रूपगत विवेचन — ०
३४. किशोरीलाल गोस्वामी और उनके उपन्यास — दिल्ली
३५. कुलपति मिश्र — दिल्ली
३६. कविवर कृष्णदास और उनके साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन — गुजरात
३७. कृष्णायन महाकाव्य का अध्ययन — आगरा

केशवदास आदि—

३८. आचार्य केशवदास—एक अध्ययन ०
३९. केशव और उनका साहित्य ०
४०. केशवदास—उनके रीतिकाव्य का विशेष अध्ययन ०
४१. केशव का आचार्यत्व आगरा
४२. केशव के काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन पंजाब
४३. रस-सिद्धांत और केशव लखनऊ
४४. केशव एवं श्रीनाथ का तुलनात्मक अध्ययन वेंकटेश्वर
४५. रामकाव्य की परंपरा में रामचंद्रिका का अध्ययन ०
४६. श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के काव्य का अनुशीलन सागर
४७. गरीबदास, उनकी हिंदी-रचनाएँ और पंथ—एक अध्ययन लखनऊ
४८. कविवर गिरधारी और उनका काव्य (जन्म संवत् १९४४)—
एक समीक्षात्मक अध्ययन आगरा
४९. आदि गुरु ग्रंथसाहब के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांत ०
५०. श्री 'गुरुग्रंथसाहब' में उल्लिखित कवियों के धार्मिक विश्वासों का अध्ययन ०
५१. गुरुग्रंथ-साहित्य ०
५२. ठाकुर गोपालशरण सिंह—काव्य, कला और कृतित्व आगरा
५३. श्री गुरु गोरखनाथ और उनका युग ०
५४. गुरु गोविंदसिंह—जीवनी और साहित्य ०
५५. गुरु गोविंदसिंह और उनका काव्य आगरा
५६. गुजरात की हिंदी-काव्य-परंपरा तथा आचार्यकवि गोविंद गिल्लाभाई
वड़ोदा
५७. श्री गोविंद गिल्लाभाई रत्न—उनकी कृतियों का साहित्यिक एवं शास्त्रीय
अध्ययन आगरा
५८. सेठ गोविंददास—कला एवं कृतित्व आनंद
५९. घनानंद और मध्यकाल की स्वच्छंद काव्य-धारा ०

चतुरसेन शास्त्री आदि—

६०. हिंदी-उपन्यासों का विकास और कथाकार चतुरसेन शास्त्री नागपुर
६१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री का व्यक्तित्व और कृतित्व आगरा
६२. उपन्यासकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री विक्रम
६३. उपन्यासकार—आचार्य चतुरसेन दिल्ली
६४. आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों में इतिहास का चित्रण आगरा
६५. आचार्य चतुरसेन शास्त्री के ऐतिहासिकेतर उपन्यासों का अध्ययन आगरा
६६. आचार्य चतुरसेन शास्त्री के कथासाहित्य का विवेचनात्मक और

	रूपात्मक अध्ययन	विक्रम
६७.	चतुरसेन के कथा-साहित्य का मूल्यांकन	पंजाब
६८.	आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यासेतर साहित्य	विक्रम
६९.	चंद वरदायी और उनका काव्य	०
७०.	पृथ्वीराजरासो के पात्रों का ऐतिहासिक अध्ययन	०
७१.	पृथ्वीराजरासो में शृंगार रस	लखनऊ
७२.	चरणदास का जीवन और उनके ग्रंथ-	प्रयाग
७३.	चिंतामणि—व्यक्तित्व और कृतित्व	दिल्ली
७४.	जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—उनकी प्रतिभा और कला	०
७५.	हरिश्चंद्र-मंडल के कवि जगमोहनसिंह की जीवनी और उनका साहित्य	जबलपुर
	जयशंकर प्रसाद आदि—	
७६.	जयशंकर प्रसाद की कृतियों का अध्ययन	नागपुर
७७.	प्रसाद का काव्य और दर्शन	०
७८.	प्रसाद—चिंतन और कला	०
७९.	जयशंकर प्रसाद के काव्य का विकास	०
८०.	प्रसाद की काव्यप्रवृत्ति	०
८१.	जयशंकर प्रसाद का दर्शन	सागर
८२.	जयशंकर प्रसाद—साहित्य और दर्शन	उस्मानिया
८३.	जयशंकर प्रसाद के साहित्य में जीवन-दर्शन	राजस्थान
८४.	प्रसाद-साहित्य की दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक भावभूमि	प्रयाग
८५.	जयशंकर प्रसाद के साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	लखनऊ
८६.	प्रसाद-साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन	प्रयाग
८७.	जयशंकर प्रसाद की प्रज्ञा और कला	आगरा
८८.	प्रसाद के साहित्य के शिल्प-पक्ष का अध्ययन	विक्रम
८९.	जयशंकर प्रसाद के साहित्य में कल्पना-तत्त्व	लखनऊ
९०.	प्रसाद-साहित्य में समाज और संस्कृति	लखनऊ
९१.	प्रसाद-साहित्य में रस-व्यंजना	आगरा
९२.	प्रसाद-काव्य में रस	राजस्थान
९३.	जयशंकर प्रसाद का स्वच्छंद यथार्थवाद	राजस्थान
९४.	जयशंकर प्रसाद का काव्य-सिद्धांत	कलकत्ता
९५.	जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक और पौराणिक पात्रों का अनुशीलन	सागर
९६.	प्रसाद का प्रकृति-दर्शन	आगरा
९७.	जयशंकर प्रसाद के काव्य में ध्वनि का विवेचन	आगरा

९८.	जयशंकर प्रसाद के नाटकों और उपन्यासों में मानवीय संबंध	पटना
९९.	प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	०
१००.	प्रसाद के नाटकों के वस्तु तथा शिल्प पक्ष का अनुशीलन	सागर
१०१.	जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक	०
१०२.	प्रसाद का कथा-साहित्य	विक्रम
१०३.	कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन	०
१०४.	भारतीय महाकाव्यों की परंपरा में कामायनी	आगरा
१०५.	कामायनी का काव्यशास्त्रीय विश्लेषण	राँची
१०६.	कामायनी के पारिभाषिक शब्दों की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक व्याख्या	दिल्ली
१०७.	कामायनी पर वैदिक साहित्य का प्रभाव	आगरा
१०८.	*कामायनी और काश्मीरी शैवाद्वैत*	*अलीगढ़*
१०९.	आनंदवाद का मनोवैज्ञानिक आधार और कामायनी का तुलनात्मक अध्ययन	पंजाब
११०.	जयशंकर प्रसाद और कुमारनआसन—एक तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
१११.	जान कवि के प्रेमाख्यानों का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रयाग
११२.	तानसेन और उनकी साहित्यिक कृतियाँ	विक्रम
	तुलसीदास आदि—	
११३.	तुलसीदास पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव	राँची
११४.	युग-स्रष्टा तुलसी	काशी
११५.	तुलसीदास—जीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन	०
११६.	गोस्वामी तुलसीदास—रत्नावली की जीवनी और रचना एवं सूकरखेत के तादात्म्य तथा इतिवृत्त के विशिष्ट परिचय से समन्वित गोस्वामी तुलसीदास के जन्मस्थान, आविर्भाव-काल, परिवार, व्यक्तित्व आदि का आलोचनात्मक अध्ययन	०
११७.	तुलसीदास और उनका युग	०
११८.	तुलसी-साहित्य पर विभिन्न प्रभाव	पटना
११९.	गोस्वामी तुलसीदास पर आगमों का प्रभाव	लखनऊ
१२०.	श्रीमद्भागवत का तुलसीदास पर प्रभाव	राँची
१२१.	भारतीय काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में तुलसी-साहित्य का अध्ययन	आगरा
१२२.	संस्कृत-साहित्यशास्त्र और तुलसीदास	राजस्थान
१२३.	तुलसी जी के काव्य का शास्त्रीय अध्ययन	सागर
१२४.	तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा	०
१२५.	'रामचरितमानस' के विशिष्ट संदर्भ में तुलसीदास की शिल्पकला का	

	अध्ययन	०
१२६.	तुलसी की काव्य-कला	०
१२७.	तुलसी की काव्य-साधना	आगरा
१२८.	तुलसीदास के प्रबंध और प्रगीत काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	सागर
१२९.	तुलसीदास का गीतिकाव्य	आगरा
१३०.	तुलसी के भक्त्यात्मक गीत	०
१३१.	तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त काव्यरूढ़ियों का अध्ययन	पंजाब
१३२.	तुलसीदास के काव्य में अलंकार-योजना	०
१३३.	तुलसीदास के काव्य में वर्णित भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पक्षों का अध्ययन	आगरा
१३४.	तुलसी और भारतीय संस्कृति	०
१३५.	भारतीय संस्कृति और तुलसी	लखनऊ
१३६.	तुलसीदास—जीवनी और विचारधारा	०
१३७.	तुलसीदास का धर्म-दर्शन	०
१३८.	तुलसी-दर्शन	०
१३९.	तुलसी-दर्शन (दर्शन-विभाग)	०
१४०.	तुलसी-दर्शन-मीमांसा	०
१४१.	तुलसी-साहित्य का दार्शनिक अनुशीलन	सागर
१४२.	तुलसीदास की दार्शनिक शब्दावली का सांस्कृतिक इतिहास	लखनऊ
१४३.	तुलसी का सामाजिक दर्शन	०
१४४.	तुलसी का समाजदर्शन	०
१४५.	गोस्वामी तुलसीदास का आचारदर्शन	आगरा
१४६.	तुलसी-साहित्य में नीति	पटना
१४७.	आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर तुलसी-काव्य का विवेचन	आगरा
१४८.	तुलसी का शीलनिरूपण	बम्बई
१४९.	तुलसी-काव्य में समाज-चित्रण	दिल्ली
१५०.	तुलसी-साहित्य में नारी	आगरा
१५१.	तुलसीदास के रामराज्य का स्वरूप	पंजाब
१५२.	तुलसी-रचित ग्रंथों में राजनीतिक विचार	आगरा
१५३.	तुलसी-साहित्य (विशेषतः 'मानस') में पौराणिक उपाख्यान	पटना
१५४.	तुलसी द्वारा प्रयुक्त छंदों का गवेषणात्मक अध्ययन	पटना
१५५.	रामचरितमानस की अंतःकथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	०
१५६.	रामचरितमानस का शास्त्रीय अध्ययन	०
१५७.	रामचरितमानस का शास्त्रीय अध्ययन	नागपुर

१५८. तुलसी के 'मानस' में शब्दार्थ-नियोजन आगरा
१५९. रामचरितमानस के स्रोत और रचनाक्रम ०
१६०. रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत ०
१६१. रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव ०
१६२. तुलसीदास के रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव राजस्थान
१६३. रामचरितमानस में परंपरा और परिभाषिक प्रभाव पटना
१६४. रामायण के पात्रों का स्वरूपविकास दिल्ली
१६५. रामचरितमानस के पात्रों के विशेषणों का अध्ययन गोरखपुर
१६६. रामचरितमानस में अलंकारयोजना लखनऊ
१६७. रामचरितमानस के उपमान प्रयाग
१६८. रामचरितमानस के मनोवैज्ञानिक स्थलों में रसनिष्पत्ति अलीगढ़
१६९. मानस में तुलसीद्वारा वर्णित समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन पटना
१७०. रामचरितमानस के विशिष्ट संदर्भ में तुलसीदास का शिक्षा-दर्शन ०
१७१. रामचरितमानस और रामचंद्रिका का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
१७२. रामचरितमानस और रामायण का तुलनात्मक अध्ययन ०
१७३. वाल्मीकि-रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन ०
१७४. वाल्मीकि-रामायण और रामचरितमानस का साहित्यिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन (संस्कृत) ०
१७५. रामायणेतर संस्कृत-काव्य और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन ०
१७६. अध्यात्मरामायण तथा रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन लखनऊ
१७७. अध्यात्मरामायण का रामचरितमानस पर प्रभाव आगरा
१७८. रामचरितमानस, वाल्मीकि-रामायण एवं अध्यात्मरामायण के नारी-पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन गोरखपुर
१७९. महाकाव्यों के विशिष्ट संदर्भ में कालिदास और तुलसीदास का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
१८०. कृत्तिवासी–बँगला–रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन ०
१८१. महाकवि भानुभक्त के नेपाली-रामायण और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन ०
१८२. कंब-रामायणम् और तुलसी-रामायण का तुलनात्मक अध्ययन (तमिल) ०
१८३. महाकवितुलसीकृत 'रामचरितमानस' एवं तमिल महाकवि कंबन-कृत 'रामायणम्' का तुलनात्मक अध्ययन आगरा

१८४. तुलसीदास और मलयालम के प्रसिद्ध रामभक्त कवि एड्डुतच्छन का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१८५. तुलसी और उञ्चन का तुलनात्मक अध्ययन — काशी
१८६. पूर्वांचलीय रामचरित-काव्य और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१८७. जैनकवि स्वयंभू के 'पउमचरिउ' (अपभ्रंश) तथा तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का तुलनात्मक अध्ययन — ०
१८८. स्वयंभू-कृत रामायण और तुलसी-कृत रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन — बंबई
१८९. मानस में क्षेपक — आगरा
१९०. 'रामचरितमानस' की टीकाओं का आलोचनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
१९१. रामचरितमानस की टीकाएँ — दिल्ली
१९२. हिंदी का मध्यकालीन विनय-काव्य और उसमें 'विनयपत्रिका' का स्थान — आगरा
१९३. (हाथरस वाले) तुलसी साहब — अलीगढ़
१९४. गुजराती के हिंदी-कवि दयाराम — आनंद
१९५. बिहार के संतकवि दरिया साहब — ०
१९६. दलपतिविजय-कृत कुमाओ रासो—आलोचनात्मक अध्ययन — राजस्थान
१९७. दशमग्रंथ का कवित्व — ०
१९८. दशमग्रंथ में पौराणिक रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन — ०
१९९. मुल्लादाऊद के चंदायन के विशिष्ट संदर्भ में लोरिक और चंदा के लोक-प्रचलित वीरगीतों का अध्ययन — प्रयाग
२००. दादूदयाल का अध्ययन — आगरा
२०१. संत कवि दादू और उनका पंथ — पंजाब
२०२. रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन — ०
२०३. श्री राय देवीप्रसाद जी 'पूर्ण' की साहित्यिक सेवा तथा उनकी कृतियों का साहित्यिक एवं शास्त्रीय अध्ययन — आगरा
२०४. द्विजदेव और उनका काव्य — ०
२०५. संतकवि धरमदास — आगरा
२०६. हित ध्रुवदास और उनका साहित्य — ०
२०७. ध्रुवदास — अलीगढ़
२०८. ध्रुवदास के साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन — दिल्ली
२०९. साहित्य और भाषा की दृष्टि से कविवर नजीर अकबराबादी के काव्य का अनुशीलनात्मक मूल्यांकन — आगरा

२१०. नंददास : जीवन और कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन — प्रयाग
२११. नंददास—जीवन और काव्य — दिल्ली
२१२. नंददास का आलोचनात्मक अध्ययन — आगरा
२१३. नंददास : दर्शन और साहित्य तथा उनमें भक्ति तत्त्व — पटना
२१४. नागरीदास का जीवन तथा उनके ग्रंथों का विवेचनात्मक अध्ययन — प्रयाग
२१५. नागरीदास की कविता के विकास में संनिहित प्रभावों एवं प्रवृत्तियों का अध्ययन — ०
२१६. गुरु नानक का हिंदी-काव्य — पंजाब

'निराला' आदि—

२१७. महाकवि 'निराला'—काव्य, संस्कृति और दर्शन — आगरा
२१८. 'निराला' और उनका साहित्य — लखनऊ
२१९. सूर्यकांत 'निराला'—व्यक्तित्व और कृतित्व — आगरा
२२०. 'निराला'—साहित्य—सांगोपांग अध्ययन — भागलपुर
२२१. 'निराला' और उनका काव्य — लखनऊ
२२२. कवि 'निराला' की जीवनी और काव्य का अनुशीलन — सागर
२२३. महाकवि 'निराला'—जीवनी और काव्य — बड़ौदा
२२४. 'निराला' में साहित्यिक प्रभाव तथा उनके काव्य की व्यावहारिक आलोचना — पटना
२२५. महाकवि 'निराला' के काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन — अलीगढ़
२२६. 'निराला' का काव्य — दिल्ली
२२७. 'निराला' का काव्यशास्त्रीय अध्ययन — पटना
२२८. हिंदी में मुक्तक छंद का क्रमिक विकास और 'निराला' के मुक्तकाव्य का विशेष अध्ययन — नागपुर
२२९. 'निराला' का गद्यसाहित्य — दिल्ली
२३०. 'निराला'-साहित्य में अभिव्यंजना-शिल्प — आगरा
२३१. पंडित पद्मसिंह शर्मा के जीवन और रचनाओं का आलोचनात्मक तथा विस्तृत अध्ययन — आगरा
२३२. पद्माकर और उनके समसामयिक — ०
२३३. पद्माकर तथा उनके रचित ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन — ०
२३४. पद्माकर और उनका काव्य — काशी
२३५. पद्माकर और उनकी कविता — नागपुर
२३६. पद्मिनी चौपाई (हेमरत्न-कृत)—एक आलोचनात्मक अध्ययन — राजस्थान
२३७. कविवर परमानंद और उनका साहित्य — ०

२३८. परमानंददास : जीवनी और कृतियाँ ०
२३९. महाकवि पुष्पदंत आगरा
२४०. पुहकर कवि का 'रस रतन' बंबई
२४१. महाराज पृथ्वीराज राठौर की जीवनी और उनकी रचनाओं का अध्ययन आगरा
२४२. पं० प्रतापनारायण मिश्र—जीवनी और कृतियाँ आगरा
२४३. प्रतापसाहि—कृतित्व एवं सिद्धांत आगरा
२४४. प्रेमघन और उनका समसामयिक हिंदी-साहित्य लखनऊ

प्रेमचंद आदि—

२४५. प्रेमचंद : एक अध्ययन (जीवन, चिंतन और कला) ०
२४६. उन्यासकार प्रेमचंद : उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन-दर्शन ०
२४७. प्रेमचंद के कथा-साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आगरा
२४८. प्रेमचंद के साहित्य में अपराध और अपराधी—एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पटना
२४९. प्रेमचंद के कथा-साहित्य के स्रोत तथा उपकरण प्रयाग
२५०. प्रेमचंद के कथा-साहित्य पर उर्दू का प्रभाव पटना
२५१. प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रयाग
२५२. प्रेमचंद के कथा-साहित्य में पारिवारिक समस्याएँ आगरा
२५३. प्रेमचंद-साहित्य में सामाजिक समस्याएँ प्रयाग
२५४. प्रेमचंद की रचनाओं में रूढ़ि और उद्भावना राजस्थान
२५५. प्रेमचंद का नारी-चित्रण तथा उसे प्रभावित करने वाले स्रोत ०
२५६. प्रेमचंद के उपन्यास-साहित्य पर भारतीय उपन्यासों का प्रभाव दिल्ली
२५७. प्रेमचंद : उपन्यासकला और जीवन-दर्शन गुजरात
२५८. समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद (प्रेमचंद के समस्यामूलक उपन्यास) ०
२५९. प्रेमचंद के उपन्यासों में नाटकीय तत्त्व लखनऊ
२६०. प्रेमचंद के उपन्यासों में ग्राम-जीवन का चित्रण आगरा
२६१. प्रेमचंद के हिंदी और उर्दू उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन दिल्ली
२६२. शरत् और प्रेमचंद के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
२६३. प्रेमचंद और शरच्चंद्र के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन लखनऊ
२६४. प्रेमचंद और रमणलाल वसंतलाल देसाई के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन ०
२६५. प्रेमचंद और गोर्की के कृतित्व का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
२६६. प्रेमचंद की कहानियों के आधार पर तद्युगीन सामाजिक जीवन का

	अध्ययन	पटना
२६७.	उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य—विशेषतः महात्मा बनादास का अध्ययन	०
२६८.	कविवर बनारसीदास—जीवनी और कृतित्व	०
२६९.	बनारसीदास की कविता	नागपुर
२७०.	पं० बालकृष्ण भट्ट—उनका जीवन और साहित्य	०
२७१.	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (व्यक्तित्व और काव्य)	दिल्ली
२७२.	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—जीवन और काव्यानुशीलन	आगरा
२७३.	बालमुकुंद गुप्त—उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन	०
२७४.	स्वामी बिहारिणीदासजी के जीवन एवं कृतित्व का समालोचनात्मक अध्ययन	आगरा
२७५.	मुक्तक-काव्य-परंपरा के अंतर्गत बिहारी का विशेष अध्ययन	०
२७६.	हिंदी-काव्य में शृंगार-परंपरा और बिहारी	०
२७७.	बिहारीलाल और उनका युग	पटना
२७८.	रीतिकालीन हिंदी-साहित्य (विशेषकर बिहारी-सतसई) में उल्लिखित वस्त्राभरणों का अध्ययन	पंजाब
२७९.	बिहारी-सतसई की टीकाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	विक्रम
२८०.	आचार्य कवि बैजनाथ द्विवेदी : जीवनी और कृतित्व	पटना
२८१.	भिखारीदास—व्यक्तित्व और कृतित्व	आगरा
२८२.	आचार्य भिखारीदास	०
२८३.	अनंत-संप्रदाय के प्रवर्तक संतकवि भीष्मदास	आगरा
२८४.	भूषण—जीवनी और कृतियाँ	आगरा
२८५.	भूषण और उनका साहित्य	वेंकटेश्वर
२८६.	सूफ़ी कवि मंझन और उनका काव्य	०
२८७.	मतिराम—कवि और आचार्य	०
२८८.	मध्यकालीन अलंकृत-कविता और मतिराम	०
२८९.	मतिराम : जीवन और कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रयाग
	मलिकमुहम्मद जायसी आदि—	
२९०.	हिंदी-प्रेमाख्यानक काव्य—जायसी का विशेष अध्ययन	०
२९१.	जायसी और उनका काव्य	०
२९२.	जायसी : उनकी कला और दर्शन	०
२९३.	जायसी का काव्य-शिल्प	दिल्ली
२९४.	जायसी का बिंब-विधान	[illegible]
२९५.	मलिक मुहम्मद जायसी के काव्यों का सांस्कृतिक अध्ययन	[illegible]

२९६. जायसी की प्रेमसाधना विक्रम
२९७. पदमावत का सादृश्य-विधान प्रयाग
२९८. पदमावत में समाज-चित्रण आगरा
२९९. संतकवि मलूकदास ?
३००. महादेवी और छायावाद—एक मूल्यांकन पंजाब
३०१. रहस्यवादी कवियों की परंपरा में महादेवी—एक अध्ययन लखनऊ
३०२. महादेवी वर्मा—जीवन और कृतित्व का अध्ययन आगरा
३०३. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग ०
३०४. आधुनिक हिंदी राष्ट्रीय काव्य के संदर्भ में माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य का विशेष अध्ययन सागर
३०५. मीराँबाई ०
३०६. मीराँ के साहित्य के मूल स्रोतों का अनुसंधान ०
३०७. मीराँ : जीवन और दर्शन नागपुर
३०८. मीराँ और महादेवी का तुलनात्मक अध्ययन लखनऊ

मैथिलीशरण गुप्त आदि—

३०९. मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता ०
३१०. गुप्तजी का काव्य-विकास ०
३११. महाकवि मैथिलीशरण के काव्य-संबंधी विधान का चरम विकास राजस्थान
३१२. हिंदी भक्ति-काव्य-परंपरा में श्री मैथिलीशरण गुप्त का विशिष्ट अध्ययन आगरा
३१३. मैथिलीशरण गुप्त और सुब्रह्मण्यम् भारती—एक तुलनात्मक अध्ययन उस्मानिया
३१४. मैथिलीशरण गुप्त और वल्लतोल का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
३१५. मोहन साईं और उनका काव्य लखनऊ
३१६. महात्मा युगलानंदशरण और उनका काव्य आगरा
३१७. रीवाँ नरेश महाराजा रघुराजसिंहजी और उनका राम-भक्ति-काव्य आगरा
३१८. संत-साहित्य के संदर्भ में संत कवि रज्जब का परिशीलन ०
३१९. रसखान तथा भक्ति-भावना अलीगढ़
३२०. राधाचरण गोस्वामी और उनका साहित्य लखनऊ
३२१. श्री गोस्वामी राधाचरणजी—व्यक्तित्व तथा कृतित्व आगरा

रामचंद्र शुक्ल आदि—

३२२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—एक अध्ययन ०
३२३. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और उनकी कृतियाँ लखनऊ

३२४. आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल की काव्यालोचना की पृष्ठभूमि आगरा
३२५. (रामचंद्र) शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत ०
३२६. (रामधारीसिंह) दिनकर—काव्य और कृतित्व आगरा
३२७. रामनरेश त्रिपाठी का व्यक्तित्व और काव्य दिल्ली
३२८. अवधी-कृष्ण-काव्य की परंपरा में भक्त-कवि लक्षदास और उनका काव्य आगरा
३२९. आचार्य लछिराम : जीवनी और साहित्य लखनऊ
३३०. श्री ललितकिशोरीजी (गौड़ीय संप्रदाय)—व्यक्तित्व और कृतित्व आगरा
३३१. लालदास—जीवन और साहित्य राजस्थान
३३ वर्णरत्नाकर का सांस्कृतिक अध्ययन पंजाब
३३३. हिंदी के अज्ञात कवि : श्री वाणिदत्त भट्ट पटना
३३४. वाचस्पतिमिश्र-कृत आचारचिंतामणि का अध्ययन और आलोचनात्मक संपादन (प्रस्तावना में धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा निबंधों में विकसित धर्मभावना और उसमें प्रतिबिंबित सामाजिक जीवन का निरूपण) आगरा
३३५. विद्यापति की पदावली का काव्यशास्त्रीय अध्ययन पटना
३३६. विद्यापति के गीतों का शास्त्रीय विवेचन भागलपुर
३३७. विद्यापति और सूरदास के शृंगारवर्णन का तुलनात्मक अध्ययन पटना
३३८. अपभ्रंश-काव्य-परंपरा और विद्यापति ०
३३९. वृंद और उनका साहित्य राजस्थान
३४०. वृंद और उनका साहित्य वेंकटेश्वर
३४१. चाचा हितवृंदावनदास और उनका साहित्य ०
३४२. हितवृंदावनदास : जीवन और कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रयाग
३४३. वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन ०
३४४. वृंदावनलाल वर्मा और सी० पी० रमन पिल्लइ के विशेषाध्ययनपूर्वक हिंदी और मलयालम के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
३४५. महाकवि शंकर और उनकी हिंदी-साहित्य को देन आगरा
३४६. राजा शिवप्रसाद की हिंदी-सेवा नागपुर
३४७. बाबू श्यामसुंदरदास—व्यक्तित्व और कृतित्व ०
३४८. बाबू श्यामसुंदरदास और उनके सहयोगी लखनऊ
३४९. हिंदी के आरंभिक स्वच्छंदतावादी काव्य और विशेषतः पंडित श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन ०
३५०. हिंदी-साहित्य को उदासी पंथ के संत संतरेणु की देन पंजाब

३५१. (भाई संतोखसिंह के) 'नानकप्रकाश' और 'सूर्यप्रकाश' का दर्शन, भाषा तथा रस संबंधी अध्ययन — पंजाब
३५२. (संतोखसिंह के) 'नानाप्रकाश' और 'सूर्यप्रकाश' के काव्य-तत्त्व का अध्ययन (छंद और अलंकार) — पंजाब
३५३. सत्यनारायण कविरत्न — अलीगढ़
३५४. संत कवि सिंगाजी—जीवन और कृतियाँ — ०
३५५. सियारामशरण गुप्त के साहित्य का अध्ययन — आगरा
३५६. सियारामशरण गुप्त — दिल्ली
३५७. हिंदी के गांधीवादी काव्य की पृष्ठभूमि तथा सियारामशरण गुप्त—व्यक्तित्व और साहित्य — नागपुर
३५८. सुखदेव मिश्र—जीवनी और कृतियाँ — लखनऊ
३५९. कविराज सुखदेव मिश्र और उनका साहित्य — अलीगढ़
३६०. सूदन का 'सुजानचरित' और उसकी भाषा — ०
३६१. संत सुंदरदास — ०
३६२. सुंदरदास का जीवन और उनके ग्रंथ — प्रयाग
३६३. सुमित्रानंदन पंत की कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि—सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन — राजस्थान
३६४. श्री सुमित्रानंदन पंत की काव्यकला और जीवन-दर्शन (सन् १९१८ से १९५८ तक) का अध्ययन — आगरा
३६५. सुमित्रानंदन पंत और उनका जीवन-दर्शन — गोरखपुर
३६६. महाकवि सूर्यमल (१८१५-१८६३) की जीवनी और रचनाओं का अध्ययन — आगरा

सूरदास आदि—

३६७. सूरदास-जीवनी और कृतियों का अध्ययन — ०
३६८. सूर और उनका साहित्य — ०
३६९. भारतीय साधना और सूर-साहित्य — ०
३७०. सूरदास की जीवनी और काव्य-कला — अलीगढ़
३७१. सूर की काव्य-कला — ०
३७२. सूरदास का शृंगार, स्वरूप और आदर्श — सागर
३७३. सूरसागर का काव्यशास्त्रीय पर्यालोचन — आगरा
३७४. सूरदास का शृंगार-वर्णन — भागलपुर
३७५. सूरदास का धार्मिक काव्य — ०
३७६. श्रीमद्भागवत और सूरदास — ०
३७७. सूरदास के (कूट-पदों के विशिष्ट संदर्भ में) कूट-काव्य का अध्ययन — ०

३७८. सूरदास के काव्य में बिंब-विधान — पंजाब
३७९. सूरकाव्य में अप्रस्तुत-योजना — प्रयाग
३८०. सूर-काव्य में प्रतीक-विधान — आगरा
३८१. सूरसागर में रस-व्यंजना — दिल्ली
३८२. सूर-साहित्य में मधुरा-भक्ति — अलीगढ़
३८३. वात्सल्य-रस के विकास में सूर का स्थान — पटना
३८४. सूर द्वारा वर्णित कृष्ण-कथा का पौराणिक आधार — पटना
३८५. सूर-साहित्य की अंतःकथाओं का अध्ययन — आगरा
३८६. सूरवर्णित रासलीला का दार्शनिक और काव्यशास्त्रीय अध्ययन — पटना
३८७. सूर-साहित्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि और उसका काव्यशास्त्रीय अध्ययन — पटना
३८८. आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर सूर-काव्य का अध्ययन — आगरा
३८९. सूर-साहित्य में बाल-मनोविज्ञान — आगरा
३९०. सूर-साहित्य का सांस्कृतिक और सामाजिक अध्ययन — आगरा
३९१. सूरदास पर वैष्णव भक्तिसंप्रदायों का प्रभाव — प्रयाग
३९२. सूर-साहित्य में सामाजिक चित्रण — पटना

सूर्यकांत त्रिपाठी (देखिए—निराला)

३९३. रीतिकालीन कवि सोमनाथ—उनका व्यक्तित्व तथा कृतित्व — आगरा
३९४. महाकवि स्वयंभू — आगरा

भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि—

३९५. भारतेंदु हरिश्चंद्र — ०
३९६. भारतेंदु हरिश्चंद्र — नागपुर
३९७. हिंदी-साहित्य को भारतेंदु हरिश्चंद्र की देन — कलकत्ता
३९८. भारतेंदु हरिश्चंद्र, उनकी कृतियों और विचारधारा का आलोचनात्मक अध्ययन — लखनऊ
३९९. भारतेंदु (हरिश्चंद्र) का नाट्य-साहित्य — ०
४००. भारतेंदु (हरिश्चंद्र) और नर्मद—एक तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
४०१. भारतेंदु और नर्मद—एक तुलनात्मक अध्ययन — ०
४०२. राहुल सांकृत्यायन—एक विवेचनात्मक अध्ययन — कुरुक्षेत्र
४०३. विद्यापति के काव्य में शृंगार और रीतिसिद्धांत एवं स्वरूप — पटना

वर्ग ४—काव्यशास्त्र और काव्यसिद्धांतों का प्रयोग

१. भौतिक द्वंद्ववाद के प्रकाश में भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन — आगरा
२. हिंदी काव्यशास्त्र का विकास — ०

३. हिंदी-काव्यशास्त्र का इतिहास ०
४. हिंदी में सैद्धांतिक समीक्षा का विकास ०
५. ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प ०
६. काव्य-दर्शन और उनके विकासों का आलोचनात्मक अध्ययन राजस्थान
७. हिंदी वैष्णव-साहित्य में निहित काव्यशास्त्रीय आदर्श और सिद्धांत प्रयाग
८. हिंदी वैष्णव भक्तिकाव्य (१३७५-१७००) में निहित काव्यादर्श एवं काव्यशास्त्रीय सिद्धांत प्रयाग
९. रीतिकाल के प्रमुख आचार्य ०
१०. रीति-कवियों एवं आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का आलोचनात्मक अध्ययन काशी
११. हिंदी के रीति-साहित्य में कला और सौंदर्यशास्त्र राजस्थान
१२. आधुनिक हिंदी-साहित्य में काव्यविषयक विवेचन के उपकरण और तत्त्व सागर
१३. आधुनिक हिंदी कवियों के काव्य-सिद्धांत ०
१४. आधुनिक युग के हिंदी-कवियों का साहित्य-संबंधी चिंतन सागर
१५. भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन दिल्ली
१६. भारतीय साहित्यशास्त्र तथा हिंदी-साहित्य के समीक्षा-सिद्धांत सागर
१७. खड़ीबोली की हिंदी-कविता पर प्राच्य तथा पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के सिद्धांतों का पुनःपरीक्षण तथा हिंदी-काव्यशास्त्र की संभावनाएँ आगरा
१८. काव्य में रस ०
१९. हिंदी-काव्यशास्त्र में रस-सिद्धांत राँची
२०. रस की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या ०
२१. मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धांत का समालोचनात्मक अध्ययन ०
२२. हिंदी-रसशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन गोरखपुर
२३. भक्तिकालीन कृष्णभक्त कवियों की रसदृष्टि दिल्ली
२४. हिंदी-काव्यशास्त्र में शृंगार-रस का विवेचन दिल्ली
२५. हिंदी-कविता (१६००-१८५० ई०) में शृंगार-रस का अध्ययन ०
२६. हिंदी-भक्तिकाव्य में शृंगार-रस लखनऊ
२७. कृष्णभक्ति में मधुर रस ०
२८. अष्टछाप के कवियों का विरह-रस आगरा
२९. हिंदी-भक्तिकाव्य (सं० १३००-१७००) में शृंगार रस ०
३०. भक्तिकालीन कविता का शृंगार-पक्ष बंबई
३१. भक्तिरस का उद्भव और विकास तथा हिंदी के मध्यकालीन भक्ति-काव्य में उसकी अभिव्यक्ति आगरा

३२.	हिंदी में भक्तिरस का विवेचन	दिल्ली
३३.	हिंदी-भक्तिकाव्य के विशिष्ट संदर्भ में शांत रस का अध्ययन	प्रयाग
३४.	मध्यकालीन हिंदी-साहित्य में शांत रस	पंजाब
३५.	मध्ययुग के काव्य में शांत रस का प्रयोग	प्रयाग
३६.	मध्ययुगीन निर्गुणभक्तिकाव्य में शांत रस (१४००-१७००)	दिल्ली
३७.	मध्ययुगीन सगुणभक्तिकाव्य में शांत रस (सं० १४००-१७००)	दिल्ली
३८.	हिंदी-काव्य में वीर रस	नागपुर
३९.	हिंदी-काव्य में करुण रस (१४००-१७०० ई०)	०
४०.	हिंदी काव्य में करुण रस	०
४१.	आधुनिक हिंदी-कविता में करुण रस	राजस्थान
४२.	हिंदी-साहित्य में हास्य रस	०
४३.	वीभत्स रस और हिंदी-साहित्य	पंजाब
४४.	उत्तरमध्यकालीन हिंदी-कविता में रसचतुष्टय—वीर, वीभत्स, भयानक और रौद्र	आगरा
४५.	हिंदी-काव्य में वात्सल्य रस	०
४६.	हिंदी-साहित्य में वात्सल्य रस	पटना
४७.	भक्तियुग में वात्सल्य रस का अध्ययन	आगरा
४८.	हिंदी के मध्यकालीन भक्तिसाहित्य (सं० १५००-१७००) में वात्सल्य और सख्य का निरूपण	०
४९.	आधुनिक हिंदी-काव्य में वात्सल्य रस	०
५०.	वात्सल्य रस और सूर	सागर
५१.	हिंदी-रीति-काव्य में रसाभास	दिल्ली
५२.	शब्द-शक्ति	आगरा
५३.	पाश्चात्य काव्यविवेचन के संदर्भ में भारतीय शब्दशक्ति-सिद्धांत का अध्ययन	प्रयाग
५४.	शब्दशक्ति का स्वरूप और खड़ीबोली हिंदीकाव्य में उसका उपयोग	आगरा
५५.	हिंदी-काव्यशास्त्र में व्यंजना-वृत्ति का विवेचन	प्रयाग
५६.	ध्वनि-संप्रदाय और उसके सिद्धांत	०
५७.	ध्वनि-सिद्धांत और हिंदी में उसका स्वरूप	पटना
५८.	ध्वनि-सिद्धांत तथा हिंदी के प्रमुख रीतिकालीन आचार्य	आगरा
५९.	आधुनिक हिंदी-कविता में ध्वनि	बंबई
६०.	ध्वनि-सिद्धांत और छायावादी कविता में उसकी अभिव्यक्ति	आगरा
६१.	लक्षणा और उसका प्रसार	०
६२.	क्षेमेंद्र का औचित्य सिद्धांत और हिंदी काव्य	आनंद

६३. औचित्य-सिद्धांत और हिंदी-काव्यशास्त्र — आगरा
६४. हिंदी-काव्यशास्त्र में दोष-विवेचन — ०
६५. काव्यदोष और उनका विकास — राजस्थान
६६. हिंदी-काव्यशास्त्र में गुण-विवेचना — दिल्ली
६७. अलंकारों का शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन — सागर
६८. हिंदी अलंकारशास्त्र — नागपुर
६९. (संस्कृत और हिंदी के आचार्यों के आधार पर) अलंकारों के स्वरूप-विकास का शास्त्रीय अध्ययन — आगरा
७०. हिंदी के रीतिकालीन अलंकार-ग्रंथों पर संस्कृत का प्रभाव (सं० १७००-१९००) — ०
७१. रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन — पंजाब
७२. हिंदी-साहित्य में अलंकार — ०
७३. आधुनिक हिंदी-काव्य में अलंकार-विधान — ०
७४. आधुनिक काल की हिंदी-कविता (१८५०-१९५०) में अलंकार-योजना — ०
७५. छायावादी हिंदी-कविता में अलंकार-योजना — आगरा
७६. उपमालंकार का विवेचन — दिल्ली
७७. हिंदी में शब्दालंकार : उद्गम और विकास — दिल्ली
७८. नायक-नायिका-भेद — ०
७९. हिंदी-महाकाव्यों में नायक — ०
८०. हिंदी-छंदशास्त्र — ०
८१. हिंदी में छंदों का विकास — पटना
८२. अपभ्रंश-काव्य में छंदयोजना — आगरा
८३. मध्यकालीन हिंदी-छंद का ऐतिहासिक विकास — ०
८४. मध्यकालीन हिंदी-काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छंदों का ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन — ०
८५. मध्यकालीन हिंदी में प्रयुक्त वर्णिक छंदों (कवित्त और सवैया) का अध्ययन — पटना
८६. रीतिकाल के विशिष्ट संदर्भ में हिंदी-काव्य में छंद-शास्त्र का विकास — पंजाब
८७. आधुनिक हिंदी-कविता में छंद — ०
८८. हिंदी में मुक्तक-छंद का आरंभ और विकास (निराला की छंद-योजना के विशेष अध्ययन सहित) — सागर
८९. हिंदी में अतुकान्त-छंद-योजना का विकास — दिल्ली
९०. हिंदी-काव्य के रूप तथा उनका शिल्प — पंजाब
९१. हिंदी-काव्य में कल्पना-विधान (आधुनिक हिंदी-कविता में रूपविधान) — ०

९२.	आधुनिक हिंदी-काव्य में कवि-कल्पना का स्वरूप और उसकी विवेचना	०
९३.	आधुनिक हिंदी-काव्य में शृंगार-भावना	नागपुर
९४.	आधुनिक हिंदी-काव्य में विरह	०
९५.	आधुनिक हिंदी-काव्य में अप्रस्तुत-विधान	पंजाब
९६.	आधुनिक हिंदी-काव्य में अप्रस्तुत-विधान	गोरखपुर
९७.	आधुनिक हिंदी-काव्य-साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन	०
९८.	आधुनिक हिंदी साहित्य में काव्यरूपों के प्रयोग—एक अध्ययन	०
९९.	आधुनिक हिंदी-कविता का शिल्प-विधान	०
१००.	आधुनिक हिंदी-कविता का काव्य-शिल्प	०
१०१.	आधुनिक हिंदी-काव्य में रूप-विधाएँ	०
१०२.	हिंदी-कविता में प्रतीकवाद का विकास	०
१०३.	आधुनिक हिंदी-कविता में प्रतीकवाद के प्रकार	०
१०४.	आधुनिक हिंदी-काव्य में प्रतीक-विधान (१८७५-१९३५ ई०)	०
१०५.	आधुनिक हिंदी-काव्य में प्रतीक-योजना	दिल्ली
१०६.	आधुनिक हिंदी-कविता में अभिव्यंजना-कला (इंदु से तारसप्तक तक)	पंजाब
१०७.	आधुनिक हिंदी-कवियों का काव्यादर्श	लखनऊ
१०८.	खड़ीबोली-कविता में विरह-वर्णन	०
१०९.	खड़ीबोली-काव्य में अभिव्यक्ति-कला (१९२० तक)	०
११०.	आधुनिक हिंदी-महाकाव्यों का शिल्पविधान	०
१११.	छायावादी काव्य में रस-व्यंजना	दिल्ली
११२.	ध्वनि और वक्रोक्ति की पृष्ठभूमि में छायायाद का विशेष अध्ययन	आगरा
११३.	छायावाद-युग में काव्यबोध और अभिव्यंजना-रूढ़ियाँ	प्रयाग
११४.	हिंदी की छायावादी कविता के कला-विधान का विवेचन	०
११५.	छायावाद का काव्यशिल्प	दिल्ली
११६.	छायावादी काव्य में अलंकार-योजना	दिल्ली
११७.	छायावादी काव्य का शैलीविज्ञानिक अध्ययन	आगरा
११८.	छायावादी काव्य में प्रतीक-योजना	सागर
११९.	छायावादोत्तर हिंदी-काव्य में रस	आगरा
१२०.	कवि-समय-मीमांसा	०
१२१.	सत्यं शिवं सुंदरम्	०
१२२.	हिंदी में छंदों का विकास	कुरुक्षेत्र

वर्ग ५—कविता (सामान्य)

१. हिंदी-काव्य में मानव और प्रकृति — ०
२. हिंदी-काव्य में प्रेम-भावना — उस्मानिया
३. हिंदी-कविता में लोकमंगल-भावना — राजस्थान
४. हिंदी-काव्य में नियतिवाद — ०
५. हिंदी-कविता (१४००-१६०० ई०) में श्रृंगार-भावना का विकास — आगरा
६. हिंदी-काव्य में हास्य और व्यंग — लखनऊ
७. हिंदी-काव्य में स्वभावोक्ति — दिल्ली
८. मध्ययुग की हिंदी-कविता में माधुर्य-भावना-मूलक भक्ति का विकास — राजस्थान
९. हिंदी-काव्य में विरह-भावना — पंजाब
१०. हिंदी-काव्य में विरह-वर्णन — नागपुर
११. हिंदी-काव्य में नख-शिख-वर्णन — दिल्ली
१२. हिंदी-कविता में नखशिख-चित्रण का स्वरूप-विकास (रीतिकालीन-कविता से नयी कविता तक) — पंजाब
१३. हिंदी-काव्य में अंग-प्रत्यंग-वर्णन (१४५०-१६५० तक) — प्रयाग
१४. हिंदी-काव्य में अंग-प्रत्यंग-वर्णन (१५००-१६०० तक) — गोरखपुर
१५. हिंदी के प्रबंधकाव्य — राजस्थान
१६. हिंदी में प्रबंधकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन — जबलपुर
१७. हिंदी-चरितकाव्य — आगरा
१८. हिंदी में महाकाव्य का स्वरूप-विकास — ०
१९. हिंदी-साहित्य में महाकाव्य — ०
२०. हिंदी-महाकाव्यों में नाट्य-तत्त्व — ०
२१. हिंदी में खंडकाव्य — आगरा
२२. हिंदी में खंडकाव्य — पंजाब
२३. हिंदी के खंडकाव्य का अध्ययन — राजस्थान
२४. हिंदी-खंडकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
२५. मध्यकालीन हिंदी के खंडकाव्य — पंजाब
२६. हिंदी के विशेष संदर्भ में रासो-साहित्य का अध्ययन — प्रयाग
२७. हिंदी रासो-काव्य-परंपरा — लखनऊ
२८. रासो-काव्यधारा — शांतिनिकेतन
२९. हिंदी-मुक्तकों का स्वरूप और विकास — आगरा

३०. मध्यकालीन हिंदी-मुक्तककाव्य—उद्भव और विकास गोरखपुर
३१. गीतिकाव्य का उद्गम, विकास और हिंदी-साहित्य में उसकी परंपरा ०
३२. हिंदी-गीतिकाव्य का विकास प्रयाग
३३. हिंदी में गीतिकाव्य नागपुर
३४. हिंदी-गीतिकाव्य की परंपरा में मीरां और महादेवी—एक अध्ययन लखनऊ
३५. हिंदी सतसई-काव्य का अध्ययन प्रयाग
३६. हिंदी में सतसई-साहित्य लखनऊ
३७. रीतिकालीन सतसई-साहित्य दिल्ली
३८. संस्कृत और शृंगार के शतकों के परिवेश में हिंदी-शृंगार-शतकों का अध्ययन गोरखपुर
३९. हिंदी-कविता की स्तोत्रपरंपरा राजस्थान
४०. हिंदी का समस्यापूर्ति-काव्य ०
४१. हिंदी में समस्यापूर्ति की परंपरा तथा विकास पटना
४२. हिंदी में चित्र-काव्य की परंपरा पटना
४३. हिंदी-कविता में जनवादी प्रवृत्तियाँ ०
४४. हिंदी-वीरकाव्य (१६००-१८०० ई०) ०
४५. हिंदी-साहित्य में राष्ट्रीय काव्यधारा का विकास ०
४६. हिंदी-कविता में राष्ट्रीय भावना लखनऊ
४७. हिंदी-काव्य में राष्ट्रीयता गुजरात
४८. हिंदी-काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना का विकास पटना
४९. हिंदी की राष्ट्रीय कविता कलकत्ता
५०. हिंदी काव्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ अलीगढ़
५१. छायावाद-उत्तर हिंदी में भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ—१९३६-५६ अलीगढ़
५२. हिंदी-कविता में प्रकृति-चित्रण ०
५३. हिंदी-साहित्य के भक्ति और रीति कालों में प्रकृति और काव्य ०
५४. हिंदी-काव्य में ऋतुवर्णन नागपुर
५५. हिन्दी-काव्य में षड्ऋतु और बारहमासा-साहित्य लखनऊ
५६. हिंदी का बारहमासा-साहित्य—उसका इतिहास तथा अध्ययन ०
५७. हिंदी में पशुचारण-काव्य ०
५८. कूटकाव्य—प्रवृत्ति और हिंदी-साहित्य आगरा
५९. हिंदी-साहित्य के कूटकाव्य की परंपरा अलीगढ़
६०. चित्र-काव्य उस्मानिया
६१. हिंदी-काव्य में नियतिवाद—सं० १०५०-२००० आगरा

६२. हिंदी-साहित्य में काव्य के स्वरूप का विकास — लखनऊ
६३. हिंदी-काव्यरूपों का उद्‌भव और विकास — ०
६४. हिंदी-साहित्य में काव्यरूढ़ियाँ — लखनऊ
६५. हिंदी-काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ (१६७५ ई० तक) — ०
६६. हिंदी-काव्य में रहस्यवाद — ०
६७. हिंदी-काव्य में रहस्यवाद का उद्‌भव और विकास — पटना
६८. हिंदी-साहित्य में योग-भावना — राजस्थान
६९. हिंदी-काव्य में वेदांत का स्वरूप (सं० १७०० तक) — आगरा
७०. जैन हिंदी-भक्तिकाव्य की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि — आगरा
७१. हिंदी नीति-काव्य — ०
७२. हिंदी में नीति-काव्य का विकास (सं० १९०० वि० तक) — ०
७३. हिंदी-नीतिकाव्य (आदिकाल से भारतेंदु तक) — ०
७४. हिंदी में उपदेशककाव्य — आगरा
७५. हिंदी-काव्य में सूक्ति का प्रयोग — आगरा
७६. हिंदी-काव्य में अन्योक्ति — ०
७७. हिंदी में अन्योक्ति-काव्य — आगरा
७८. हिंदी-साहित्य में अन्योक्ति-योजना — लखनऊ
७९. संस्कृत-अन्योक्तिकाव्य के संबंध से हिंदी-अन्योक्तिकाव्य का अध्ययन — केरल
८०. वैष्णव भक्तिकाव्य और भारतीय संगीत का परस्पर संबंध (आदिकाल से रीतिकाल के अंत तक) — आगरा
८१. डिंगल-पद्य-साहित्य का अध्ययन — आगरा
८२. राजस्थान के चारणी काव्य — राजस्थान
८३. हिंदी साहित्य में जैमिनी काव्य की परंपरा — लखनऊ
८४. अपभ्रंश (जैन) प्रेमाख्यानक काव्य (१०००-१२००) — आगरा
८५. मध्ययुगीन और आधुनिक हिंदी-कविता में पेड़-पौधे और पशु-पक्षी — ०

वर्ग ६—प्राचीनकालीन कविता

१. हिंदी-साहित्य (११वीं से १८वीं शती) में काव्य-रूप — आगरा
२. मध्यकालीन ऐतिहासिक काव्य — गोरखपुर
३. वैदिक भक्ति और हिंदी के मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति — ०
४. हिंदी के मध्यकालीन खंडकाव्य — ०
५. हिंदी-भक्तिकाव्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका — सागर
६. भारतीय देवभावना और मध्ययुगीन हिंदी-साहित्य में चित्रित उनका स्वरूप — आगरा

७. मध्यकालीन हिंदी-साहित्य में अवतारवाद ०
८. मध्यकालीन हिंदी-कविता में दोहा ०
९. मध्ययुगीन जैन हिंदी-काव्य में रहस्यवाद और उसका तुलनात्मक विवेचन आगरा
१०. मध्यकालीन हिंदी-काव्य में रहस्यवाद पंजाब
११. मध्ययुगीन हिंदी-काव्य में रहस्यवाद : सं० १६०० वि० तक आगरा
१२. मध्यकालीन भक्तिसाधना में प्रेम का स्वरूप काशी
१३. मध्यकालीन हिंदी-कविता में नाटकीय तत्त्व लखनऊ

आदिकाल—

१४. आदिकालीन हिंदी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ ०
१५. हिंदी-साहित्य में काव्यरूप (१०वीं से १४वीं शती तक) आगरा

भक्तिकाल—

१६. भक्तिकालीन साहित्य में प्रेम के विविध प्रयोग राजस्थान
१७. भक्तिकालीन हिंदी-काव्य में मानववादी चेतना पंजाब
१८. भक्तिकालीन हिंदी-साहित्य में योग-भावना ०
१९. भक्तिकालीन बाललीला के पदों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन काशी
२०. हिंदी-भक्तिसाहित्य के संदर्भ में भक्ति-आंदोलन का अध्ययन प्रयाग
२१. हिंदी-भक्तिकाव्य (१४००–१६००) की पौराणिक कथाओं का उद्‌गम और विकास प्रयाग
२२. हिंदी-भक्तिसाहित्य में प्रयुक्त पौराणिक देवी-देवताओं का अध्ययन आगरा
२३. निर्गुण और सगुण काव्य में रहस्यात्मक अनुभूति का स्वरूप ०
२४. सगुण तथा निर्गुण मध्ययुगीन साहित्य का अध्ययन (१४००-१७०० तक) प्रयाग
२५. हिंदी के भक्तिकाव्य में जैन साहित्यकारों का योगदान (सं० १४००-१८००) ०
२६. १५वीं शती से १७वीं शती तक हिंदी-साहित्य के काव्यरूपों का अध्ययन ०
२७. मध्यकालीन (१५वीं और १६वीं शताब्दी) ब्रजभाषा काव्य की गीति-शैली का विकास और संगीत का उसमें योगदान आगरा

निर्गुणसंतकाव्य—

२८. निर्गुणकाव्य का मूल तथा उसका प्रारंभिक विकास प्रयाग
२९. हिंदी के निर्गुण भक्तिकाव्य में औपनिषदिक विचारधारा (भारतेंदु-पर्यंत) आगरा
३०. हिंदी की निर्गुण-काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि ०
३१. हिंदी-काव्य की निर्गुणधारा में भक्ति का स्वरूप ०

३२. चरनदास, सुंदरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार ०
३३. प्रनामी संतों का साहित्य और दर्शन पटना
३४. १८वीं तथा १९वीं शती के निर्गुण काव्य का विवेचनात्मक अध्ययन प्रयाग
३५. आगमिक दृष्टिकोण से मध्ययुगीन संत-साहित्य का समीक्षण आगरा
३६. हिंदी-संतसाहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि ०
३७. मध्यकालीन संतसाहित्य ०
३८. संतकाव्य की दार्शनिक पीठिका कलकत्ता
३९. संतकाव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि लखनऊ
४०. संत-काव्य में परीक्षणा (?) का स्वरूप विक्रम
४१. संतों की आध्यात्मिक साधना लखनऊ
४२. मध्यकालीन हिंदी-संतसाहित्य की साधना-पद्धति ०
४३. पंद्रहवीं शती के संत-साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन आगरा
४४. संतमत का आचार-दर्शन पटना
४५. चौदहवीं तथा पंद्रहवीं शती के हिंदी संत-साहित्य में सर्वोदय-भावना आगरा
४६. राजस्थान के सांस्कृतिक विकास में संतों एवं योगप्रधान संप्रदायों एवं उनके साहित्य का योगदान राजस्थान
४७. मध्यकालीन संतों की रहस्य-साधना आगरा
४८. मध्यकालीन हिंदी संत-साहित्य में मानवतावादी विचारधारा दिल्ली
४९. महाराष्ट्र के हिंदी-संतकवि लखनऊ
५०. संत-साहित्य की प्रवृत्तियाँ लखनऊ

प्रेमाख्यानकसूफीकाव्य—

५१. मध्यकालीन हिंदी-प्रेमाख्यानककाव्य में कथानक-रूढ़ियाँ पंजाब
५२. जायसी के परवर्ती हिंदी सूफी-कवि ०
५३. हिंदी-काव्य में सूफ़ीवाद और उसके प्रमुख कवि जायसी का आलोचनात्मक अध्ययन नागपुर
५४. हिंदी-सूफ़ीकाव्य की भूमिका : सूफ़ीमत, साधना और साहित्य ०
५५. सूफ़ी प्रेमाख्यानों में साहित्यिक अभिप्राय आगरा
५६. हिंदी सूफ़ी काव्य के प्रतीक और रूपक राँची
५७. भारतीय साधनाओं के परिवेश में हिंदी सूफी-काव्य का अध्ययन गोरखपुर
५८. हिंदी-प्रेमाख्यानकाव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन आगरा
५९. हिंदी-सूफीकाव्य का सांस्कृतिक अध्ययन आगरा
६०. हिंदी-सूफीकाव्य में भारतीय वेदांत लखनऊ
६१. सूफ़ी-काव्य में रस-व्यंजना आगरा
६२. मध्ययुगीन (१५वीं से १७वीं शती) हिंदी के प्रेमाख्यानक-काव्य में

	विषय	विश्वविद्यालय
	आख्यान	आगरा
६३.	सूफ़ीमत और हिंदी-साहित्य	•
६४.	सूफ़ीमत और हिंदी के सूफ़ी-प्रेमाख्यान काव्य	सागर
६५.	हिंदी में प्रेमाख्यानकों की काव्य-परंपरा	आगरा
६६.	हिंदू कवियों के प्रेमाख्यान	•
६७.	दक्खिनी हिंदी का प्रेमगाथा-काव्य	पूना
	सगुणभक्तिकाव्य—	
६८.	सगुणभक्त कवियों का व्यक्तिगत और सामाजिक आदर्श	सागर
६९.	सगुणभक्तिकाव्य का नैतिक आधार	पंजाब
७०.	रामकृष्णेतर हिंदी-सगुणभक्तिकाव्य	लखनऊ
७१.	सगुणभक्त कवियों के प्रगीतकाव्य का अनुशीलन (सं० १६०१-१७००)	विक्रम
	कृष्णभक्तिकाव्य—	
७२.	हिंदी-कृष्णभक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि	०
७३.	हिंदी में कृष्ण-काव्य का विकास	०
७४.	भारतीय भक्तिधारा में राधाकृष्ण-भावना	पटना
७५.	मध्यकालीन हिंदी-साहित्य में कृष्ण-भावना (१५००-१८००)	आगरा
७६.	श्रीकृष्ण की जीवनकथा का उद्भव और विकास	आगरा
७७.	हिंदी-काव्य में कृष्ण का चारित्रिक विकास	०
७८.	कृष्णकथा का स्वरूप—हिंदी-काव्य के परिवेश में	सागर
७९.	श्रीकृष्ण-कथा का विकास	विक्रम
८०.	कृष्ण-कथा का पौराणिक अध्ययन	पटना
८१.	मध्ययुगीन हिंदी-साहित्य में कृष्ण (विकास-वार्ता)	०
८२.	अष्टछाप की राधा तथा गोपियाँ	पटना
८३.	१६वीं तथा १७वीं शताब्दी के कृष्णभक्ति-साहित्य में गोपियाँ	अलीगढ़
८४.	भक्तिकालीन कृष्णकाव्य में राधा का स्वरूप	०
८५.	हिंदी-काव्य में राधा	आगरा
८६.	कृष्णभक्तिकाव्य में प्रेम और सौंदर्य (१५वीं एवं १६वीं शती)	अलीगढ़
८७.	कृष्णकाव्य में लीला-वर्णन	दिल्ली
८८.	ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्यभक्ति (१५५०-१६५०)	०
८९.	हिंदी-कृष्णकाव्य में माधुर्योपासना	०
९०.	कृष्णभक्त कवियों की परमविरहासक्ति	लखनऊ
९१.	भक्तिकालीन कृष्णकवियों की विरह-भावना	दिल्ली
९२.	कृष्णभक्ति में विरह-भावना (१६०० से १७०० तक)	अलीगढ़

९३. हिंदी-कृष्णभक्ति-काव्य में सखी-भाव ०
९४. कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत ०
९५. हिंदी में भ्रमरगीत-काव्य और उसकी परंपरा ०
९६. हिंदी-साहित्य में भ्रमरगीत परंपरा पंजाब
९७. कृष्णकाव्यधारा में मुसलमान कवियों का योगदान (१६००-१८५०) ०
९८. हिंदी के भक्तिकालीन कृष्णभक्ति-साहित्य में रीति-काव्य परंपरा ०
९९. हिंदी में रुक्मिणी-काव्य आनंद
१००. हिंदी के भक्तिकालीन कृष्णकाव्य में संगीत ०
१०१. अष्टछाप-कवियों की सौंदर्यानुभूति काशी
१०२. अष्टछाप के कवियों का रूप-वर्णन दिल्ली
१०३. अष्टछाप में प्रकृति-चित्रण लखनऊ
१०४. अष्टछाप के कवियों की रस-साधना अलीगढ़
१०५. अष्टछाप-काव्य की गोपियों का मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक अध्ययन प्रयाग
१०६. कृष्ण-काव्य में ग्राम्य-जीवन लखनऊ

रामकाव्य—

१०७. रामकथा-उत्पत्ति और विकास ०
१०८. हिंदी में रामकाव्य जबलपुर
१०९. रामभक्ति और हिंदी-साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति ०
११०. रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना ०
१११. तुलसी-पूर्व राम-साहित्य लखनऊ
११२. तुलसी के परवर्ती रामकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन गोरखपुर
११३. हिंदी में रामविषयक जैन-साहित्य आगरा
११४. हिंदी-साहित्य के आधार पर राम के स्वरूप का अध्ययन लखनऊ
११५. विभिन्न युगों में सीता का चरित्र-चित्रण तथा तुलसीदास में उसकी चरम परिणति (संस्कृत) ०
११६. हिंदी-काव्य में सीता का स्वरूप पंजाब
११७. हिंदी-काव्य में सीता का स्वरूप दिल्ली
११८. भक्तिकालीन हिंदी-कविता में दार्शनिक प्रवृत्तियां—रामभक्तिशाखा ०
११९. रामकाव्य (भक्तिकाल से आधुनिक काल तक) में पात्रों का विकास आगरा

रीतिशृंगारकाल—

१२०. हिंदी-साहित्य में भक्ति और रीति की संधिकालीन प्रवृत्तियों का विवेचनात्मक अनुशीलन ०
१२१. रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

१५४. रीतिकालीन हिंदी और उर्दू काव्य का समाजशास्त्रीय विवेचन — सागर
१५५. अठारहवीं शताब्दी का हिंदी-साहित्य — राँची
१५६. पद्माकरोत्तर हिंदी-रीतिकाव्य — काशी
१५७. रीतिकालीन शृंगार-भावना के स्रोत — कुरुक्षेत्र

वर्ग ७—आधुनिक काल (सामान्य)

१. रीतिकाल और आधुनिक काल के संधि-सूत्र — आगरा
२. आधुनिक हिंदी-साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ — राजस्थान
३. आधुनिक हिंदी-साहित्य (१८७०-१९५०) की विचारधारा — •
४. आधुनिक हिंदी के विविध वादों का अनुशीलन — सागर
५. आधुनिक साहित्य में सामाजिक हास्य और व्यंग — सागर
६. आधुनिक हिंदी-साहित्य में राष्ट्रीय-भावना का स्वरूप-विकास — राजस्थान
७. भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम और उसका आधुनिक हिंदी-साहित्य पर प्रभाव — ०
८. स्वतंत्रता-आंदोलन और आधुनिक हिंदी-साहित्य — लखनऊ
९. सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम का हिंदी-साहित्य — आगरा
१०. राजद्वय—राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह—आधुनिक हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में उनका योगदान और आधुनिक हिंदी साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के निर्माण पर उनका प्रभाव — राजस्थान
११. आधुनिक हिंदी-साहित्य में गांधीवाद — ०
१२. आधुनिक हिंदी-साहित्य पर मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक वादों का प्रभाव — सागर
१३. आधुनिक हिंदी-साहित्य की यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ और प्रगतिवादी धारा का अनुशीलन — नागपुर
१४. हिंदी के प्रगतिवादी साहित्य का अनुशीलन — सागर
१५. आधुनिक हिंदी-गद्य-साहित्य में प्रगति-चेतना — दिल्ली
१६. आधुनिक हिंदी-साहित्य में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ — ०
१७. हिंदी-साहित्य और भाषा के विकास में रजतपट, रंगमंच और आकाशवाणी का योगदान — दिल्ली
१८. भारतेंदु-युग — नागपुर
१९. भारतेंदुयुगीन साहित्य में व्यंग्यात्मकता — आगरा
२०. भारतेंदु युग के सप्त महारथी — रांची
२१. भारतेंदु-उत्तर हिंदी-साहित्य में हास्य — राजस्थान
२२. हिंदी-साहित्य (१९३५-१९५० तक) का आलोचनात्मक अध्ययन — आगरा
२३. हिंदी का युद्धोत्तर साहित्य — राजस्थान

२४. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ ०
२५. स्वतंत्र भारत का हिंदी-साहित्य आगरा

वर्ग ८—आधुनिककालीन कविता

१. आधुनिक काव्य और काव्यवादों का अध्ययन ०
२. आधुनिक काव्यधारा ०
३. आधुनिक कविता की मूल प्रेरणाएँ आगरा
४. आधुनिक हिंदी-कविता की प्रेरणाएँ नागपुर
५. आधुनिक हिंदी-काव्य की प्रवृत्तियाँ नागपुर
६. आधुनिक हिंदी-काव्य में मध्ययुगीन प्रवृत्तियाँ लखनऊ
७. १९वीं शताब्दी में हिंदी-काव्य में पुनरुत्थान कलकत्ता
८. रीतिकालोत्तर कवि और काव्य पटना
९. आधुनिक हिंदी-साहित्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का नवावतार राजस्थान
१०. आधुनिक काल के रीति-ग्रंथकार कवि आगरा
११. आधुनिक हिंदी-कविता में प्रेम और सौंदर्य ०
१२. आधुनिक हिंदी-काव्य में सौंदर्य ०
१३. आधुनिक हिंदी-काव्य में मानव-व्यक्तित्व का स्वरूप—१९००–१९५० सागर
१४. आधुनिक हिंदी-काव्य में सौंदर्यानुभूति के विभिन्न स्तर प्रयाग
१५. आधुनिक हिंदी-कविता में रूढ़िवाद पंजाब
१६. आधुनिक हिंदी-काव्य में परंपरा तथा प्रयोग ०
१७. आधुनिक प्रगतिशील हिंदी-कविता विक्रम
१८. आधुनिक हिंदी-कविता में नूतन उद्‌भावनाएँ नागपुर
१९. आधुनिक हिंदी-काव्य में संमूर्तन काशी
२०. आधुनिक हिंदी-काव्य में रूप-वर्णन—१९००-१९५८ आगरा
२१. आधुनिक हिंदी में वीरकाव्य आगरा
२२. आधुनिक हिंदी-काव्य और भारतीय स्वाधीनता आंदोलन—१८५०–१९५० गोरखपुर
२३. आधुनिक हिंदी-काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास सागर
२४. आधुनिक हिंदी-काव्य में यथार्थवाद (भारतेंदु-युग से १९५० तक की कविता का अध्ययन) ०
२५. आधुनिक हिंदी-साहित्य के स्वच्छंदतावादी काव्य का अनुशीलन ०
२६. आधुनिक हिंदी-रामकाव्य (सन् १८५७–१९५५ ई०) का अध्ययन आगरा
२७. आधुनिक हिंदी-कविता में वाद-प्रवाद राजस्थान

२८. आधुनिक हिंदी-कविता में यथार्थवाद — आगरा
२९. मार्क्सवाद तथा हिंदी-कविता — पंजाब
३०. आधुनिक हिंदी-साहित्य में प्रबंधकाव्य का आरंभ और विकास — विक्रम
३१. आधुनिक हिंदी के पौराणिक प्रबंधकाव्य — पटना
३२. आधुनिक हिंदी-प्रबंधकाव्यों में त्रासदीय तत्त्व — दिल्ली
३३. हिंदी के आधुनिक महाकाव्य — ०
३४. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य — ०
३५. बीसवीं शताब्दी के रामकाव्य — ०
३६. आधुनिक हिंदी-खंडकाव्य — सागर
३७. आधुनिककालीन खंडकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन — अलीगढ़
३८. हिंदी के आधुनिक साहित्य में पौराणिक खंडकाव्यों का अध्ययन — अलीगढ़
३९. आधुनिक हिंदी-गीतिकाव्य का विकास — दिल्ली
४०. आधुनिक हिंदी-काव्य में गीत-भावना का विकास — ०
४१. आधुनिक हिंदी-प्रगीतकाव्य का अध्ययन — सागर
४२. आधुनिक काल में ब्रज-कविता का विकास — आगरा
४३. आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य—एक अध्ययन — लखनऊ
४४. ब्रजकाव्य का आधुनिक हिंदी-काव्य में विकास — नागपुर
४५. आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य (सं० १९००–२०००) का विकास — ०
४६. आधुनिक युग का ब्रजभाषा-काव्य — काशी
४७. खड़ीबोली के ऐतिहासिक काव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन — आगरा
४८. खड़ीबोली का ऐतिहासिक काव्य — दिल्ली
४९. खड़ीबोली के खंडकाव्य — लखनऊ
५०. आधुनिक हिंदी-कविता (१९००-१९५५) की दार्शनिक पृष्ठभूमि — प्रयाग
५१. हिंदी-कविता (भारतेंदु से सं० २०१० तक) की दार्शनिक पृष्ठभूमि — आगरा
५२. आधुनिक हिंदी-काव्य पर अरविंद-दर्शन का प्रभाव — आगरा
५३. आधुनिक हिंदी-काव्य में मानवतावाद — विक्रम
५४. वर्तमान हिंदी-काव्य में मानवतावाद — आगरा
५५. आधुनिक हिंदी-कविता में मानवतावादी भावना (लोकमंगलभावना) का विकास — राजस्थान
५६. आधुनिक हिंदी-कविता में चित्रित नवीन मानवीय मूल्यों का आलोचनात्मक अध्ययन — काशी
५७. आधुनिक काव्य में व्यक्तिवादी दर्शनों का प्रभाव — प्रयाग
५८. आधुनिक हिंदी-कवियों का व्यक्तिवादी दर्शन — कलकत्ता
५९. आधुनिक हिंदी-काव्य में प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता का अनुशीलन — सागर

६०. आधुनिक हिंदी-काव्य में रहस्यवाद ०
६१. आधुनिक हिंदी-काव्य में निराशावाद ०
६२. आधुनिक हिंदी-कविता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन बंबई
६३. आधुनिक हिंदी-कविता में नैतिक चेतना का स्वरूप एवं विकास पंजाब
६४. आधुनिक हिंदी-कविता में भक्ति पंजाब
६५. आधुनिक हिंदी-काव्य में भक्ति-तत्त्व दिल्ली
६६. आधुनिक काल में भक्तिकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन गोरखपुर
६७. हिंदी-साहित्य के आधुनिक कृष्णकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन आगरा
६८. आधुनिक हिंदी-साहित्य में कृष्णकाव्य लखनऊ
६९. बीसवीं शती में रामकाव्य लखनऊ
७०. भारतेंदु और भारतेंदुकालीन काव्य सागर
७१. भारतेंदुयुगीन हिंदी-कवि ०
७२. भारतेंदु-युग के हिंदी-काव्य का अनुशीलन सागर
७३. द्विवेदी-युग में हिंदी-कविता का पुनरुत्थान (१९०१-२० ई०) ०
७४. द्विवेदी-युग के हिंदी-काव्य का अनुशीलन सागर
७५. द्विवेदी-युग के कवियों का ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक अध्ययन लखनऊ
७६. आधुनिक हिंदी-कविता (१९०१-१९२०) में स्वच्छंदतावाद अलीगढ़
७७. काव्य और नीति (द्विवेदीयुगीन से प्रगतियुगीन काव्य के आधार पर) आगरा
७८. छायावादी काव्य तथा उसकी विविध समीक्षाओं का अनुशीलन सागर
७९. हिंदी-कविता का छायावाद-युग—उत्तरार्द्ध लखनऊ
८०. छायावादी हिंदी-कविता में प्रेमभावना लखनऊ
८१. हिंदी के छायावादी कवियों के व्यक्तित्व और काव्यरूपों (प्वोएटिक पैटर्न)का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कलकत्ता
८२. प्रसाद, पंत और निराला के काव्य में मूर्तिविधान जबलपुर
८३. अंग्रेजी रोमान्टिक काव्य के संदर्भ में हिंदी छायावादी काव्य का अध्ययन गोरखपुर
८४. छायावादी काव्य में प्रकृति और अध्यात्म पटना
८५. छायावादी काव्य की दार्शनिक और सांस्कृतिक भूमिका सागर
८६. छायावादी काव्य के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक पक्षों का अनुशीलन नागपुर
८७. छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि आगरा
८८. छायावादी हिंदी-काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि लखनऊ
७९- छायावादी काव्य का दार्शनिक पक्षाधार पटना

९०.	हिंदी की छायावादी कविता में चित्रात्मकता	आगरा
९१.	छायावादी काव्य का भावात्मक सौंदर्य-बोध	कुरुक्षेत्र
९२.	उत्तर-छायावादी काव्य का अनुशीलन	सागर
९३.	छायावादोत्तर हिंदी-कविता—१९५५ तक	गुजरात
९४.	छायावादी युग के पश्चात् हिंदी-काव्य की विविध विकास दिशाएँ (१९३६-१९५८ तक)	०
९५.	छायावादोत्तर हिंदी-कविता का स्वरूप	लखनऊ
९६.	छायावादोत्तर हिंदी-कविता का विकास (१९३७ से १९६० तक)	काशी
९७.	छायावादोत्तर हिंदी-गीतिकाव्य	आगरा
९८.	छायावादोत्तर हिंदी-काव्य की भाषाशैली का काव्यशास्त्रीय अध्ययन	आगरा
९९.	उत्तर-छायावादी काव्य में प्रतीक और बिंब-विधान तथा उनका नृतत्त्व-शास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय और सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन	पंजाब
१००.	हिंदी की प्रयोगवादी कविता और उसके प्रेरणा-स्रोत	आनंद
१०१.	नयी हिंदी-कविता में बिंब-विधान	दिल्ली
१०२.	युद्धोत्तर हिंदी-काव्य की पृष्ठभूमि	राजस्थान
१०३.	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-कविता	०
१०४.	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-कविता में लोकोन्मुखी चेतना	सागर

वर्ग ९—गद्य, गद्यशैली और गद्यकाव्य

१.	हिंदी-गद्य का विकास—१८०० से १८५६ ई० तक	०
२.	हिंदी-गद्य-साहित्य का विकास	०
३.	हिंदी-साहित्य में गद्य का विकास	नागपुर
४.	हिंदी-गद्य (भाषा और साहित्य) का निर्माण और विकास : देश के सुधार-वादी और राजनैतिक आंदोलनों के प्रकाश में परीक्षण (अद्यावधि)	०
५.	हिंदी-गद्य के विविध साहित्य-रूपों के उद्भव और विकास का अध्ययन	०
६.	हिंदी का प्राचीन और मध्यकालीन गद्य	०
७.	हिंदी-गद्य-विधाओं का शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक निरूपण	आगरा
८.	हिंदी-गद्यशैली का विकास	काशी
९.	हिंदी-गद्यशैली का विकास—१९१८ तक	?
१०.	हिंदी की प्रतिनिधि गद्यशैलियों का आलोचनात्मक अध्ययन	दिल्ली
११.	युगेतर (?) हिंदी-गद्यशैलियों के विकास में पाश्चात्य प्रभाव का अध्ययन	प्रयाग
१२.	हिंदी-गद्यशैली पर छायावाद का प्रभाव	पटना
१३.	दक्खिनी का प्रारंभिक गद्य	०

१४.	हिंदी-गद्य के विकास में विदेशी एवं धार्मिक संस्थाओं का योगदान	कलकत्ता
१५.	हिंदी-पत्र-पत्रिकाओं में गद्य का विकास	सागर
१६.	आर्यसमाज का हिंदी-गद्य-साहित्य	आगरा
१७.	भारतेंदुयुगीन हिंदी गद्य का विकास	जबलपुर
१८.	द्विवेदी युगीन हिंदी-गद्यशैलियाँ	०
१९.	हिंदी-गद्य का वैभव-काल (१९२५-१९५०)	०
२०.	द्विवेदीयुगोत्तर हिंदी गद्य-शैलियों का अध्ययन	सागर
२१.	द्विवेदी-युग के पश्चात् हिंदी की गद्यशैलियाँ	नागपुर
२२.	हिंदी-गद्य का वैभव-काल—१९२५ से ५०	राजस्थान
२३.	छायावाद-युग की गद्यशैलियों का अध्ययन	सागर
२४.	छायावादी कवियों का गद्यसाहित्य—एक अध्ययन	लखनऊ
२५.	छायावादी कवियों का गद्य-साहित्य	दिल्ली
२६.	छायावादोत्तर हिंदी-गद्य-साहित्य	गोरखपुर
२७.	आधुनिक गद्यशैलियाँ (१९३६ से ५६)	सागर
२८.	हिंदी-गद्यकाव्य का आलोचनात्मक और रूपात्मक अध्ययन	०
२९.	हिंदी में गद्यकाव्य का विकास	०

वर्ग १०—नाटक

१.	भारतीय नाट्य-परंपरा तथा हिंदी नाटक	आगरा
२.	भारतीय नाटक का उद्भव और विकास	०
३.	हिंदी-नाटक-साहित्य का इतिहास का इतिहास	०
४.	हिंदी नाटक का उद्भव और विकास	०
५.	हिंदी नाटक का उद्भव और विकास	०
६.	हिंदी नाटक के स्रोत—भारतेन्दु से १९५० तक	प्रयाग
७.	भारतेंदुकालीन नाटक-साहित्य	०
८.	भारतेंदु-युग के नाटककार	०
९.	भारतेंदुकालीन नाटक और रंगमंच	०
१०.	भारतेंदु-युग के नाटकों का शास्त्रीय विवेचन	प्रयाग
११.	द्विवेदीयुगीन नाटक-साहित्य	लखनऊ
१२.	हिंदी के आधुनिक नाटक-साहित्य में परंपरा और प्रयोग—प्रसाद-युग से स्वतंत्रता प्राप्ति तक	आगरा
१३.	प्रसाद के पश्चात् हिंदी नाटकों का विकास	०
१४.	हिंदी नाटक का विकास—१९४२ से १९५८ तक	राजस्थान
१५.	हिंदी के पौराणिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन	०

१६. हिंदी के पौराणिक नाटकों के मूल स्रोत	आगरा
१७. हिंदी के ऐतिहासिक नाटक	आगरा
१८. हिंदी के ऐतिहासिक नाटक	विक्रम
१९. हिंदी के ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन	„
२०. प्रसाद के विशिष्ट संदर्भ में हिंदी के ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन	कलकत्ता
२१. हिंदी के ऐतिहासिक नाटकों की शिल्प-विधि	प्रयाग
२२. हिंदी के ऐतिहासिक नाटकों में शील-वैचित्र्य का अध्ययन	पटना
२३. हिंदी के ऐतिहासिक नाटक—उनकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ और प्रेरक शक्तियाँ	„
२४. हिंदी के यथार्थवादी तथा समस्यामूलक नाटकों का अध्ययन	सागर
२५. आधुनिक हिंदी-साहित्य में स्वच्छंदतावादी नाटकों का विकास	„
२६. हिंदी-साहित्य में समस्या नाटक	दिल्ली
२७. हिंदी नाट्य-साहित्य में नायक की परिकल्पना	प्रयाग
२८. हिंदी-नाटक में नायक का स्वरूप	पंजाब
२९ नाटकों में यथार्थवाद	„
३०. हिंदी-नाटक में स्वच्छंदतावाद	लखनऊ
३१. हिंदी-नाट्य-साहित्य में नारी-चित्रण	प्रयाग
३२. आधुनिक हिंदी-नाटकों में नारी-चित्रण (बाबू हरिश्चंद्र से लेकर अश्क तक)	„
३३. आधुनिक हिंदी नाटकों में नायक एवं नायिका की परिकल्पना	आगरा
३४. प्रसादोत्तर हिंदी नाटकों में रस-विधान	दिल्ली
३५. प्रसादयुगोत्तर हिंदी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	आगरा
३६. हिंदी-नाटकों में त्रासद-तत्त्व	दिल्ली
३७. हिंदी-नाटकों में हास्य-तत्त्व	प्रयाग
३८. हिंदी-नाटकों में हास्य-योजना	विक्रम
३९. हिंदी में एकांकी नाटक	„
४०. हिंदी-रंगमंच का विकास और एकांकी	लखनऊ
४१. हिंदी-एकांकी की शिल्प-विधि	आगरा
४२. हिंदी भाव-प्रतीक, गीति-नाट्य तथा रेडियो-नाटक और उनके लेखक	आगरा
४३. हिंदी-साहित्य में गीतिनाट्य का उद्भव और विकास	सागर
४४. हिंदी के गीति-नाट्य	दिल्ली
४५. आरंभिक मैथिली गीतिनाट्य	कलकत्ता

४६. मैथिली नाटकों का उद्भव और विकास — बड़ौदा
४७. पारसी रंगमंच : उसके नाटक और नाटककारों का आलोचनात्मक अध्ययन — विक्रम
४८. हिंदी-रंगमंच — नागपुर
४९. हिंदी में रंगमंच का विकास — आगरा
५०. हिंदी-रंगमंच का विकास — दिल्ली
५१. हिंदी नाटक और रंगमंच का विकास — पटना
५२. हिंदी रंगमंच और रंगमंचीय नाटक — गोरखपुर
५३. हिंदी-नाट्यसाहित्य में कविता तथा गीत का प्रयोग — आगरा
५४. हिंदी-नाटकों में संगीत-तत्त्व — गोरखपुर
५५. आधुनिक हिंदी-नाट्यकारों के नाट्य-सिद्धांत — दिल्ली
५६. हिंदी-नाटक के शिल्प का विकास — प्रयाग
५७. हिंदी के नाट्यरूपों का विकास—एक शिल्पगत अध्ययन — ०
५८. हिंदी-नाटक की शिल्पविधि का विकास (भारतेंदु-युग से १९५५ तक) — ०
५९. हिंदी-नाटकों का शास्त्र — आगरा
६०. हिंदी-नाटक-कला — आगरा
६१. हिंदी के रेडियो-रूपकों का शैलीगत अध्ययन — आगरा

वर्ग ११—कथा-साहित्य

१. हिंदी गद्य-कथा और उसके पाठकों की रुचि का विकास — पटना
२. वर्तमान कथा के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन — राजस्थान
३. हिंदी-कथा-साहित्य में राष्ट्रीय भावना — उस्मानिया
४. हिंदी-कथा-साहित्य में चित्रित यौन-समस्या का अध्ययन — आगरा
५. हिंदी-कथा-साहित्य में सामाजिक आलोचना के तत्त्व : भारतेंदु-युग से प्रेमचंद तक — पटना
६. आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य और चरित्र-विकास — भागलपुर
७. आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान — ०
८. हिंदी-साहित्य में भावात्मक कहानी और उपन्यास की परंपरा तथा जयशंकरप्रसाद के कथा-साहित्य का अनुशीलन — सागर
९. प्रेमचंदयुगीन कथा-साहित्य (१९११-१९३६) में वातावरण-चित्रण — आगरा
१०. प्रेमचंदोत्तर हिंदी कथा-साहित्य के सांस्कृतिक स्रोत — प्रयाग
११. प्रेमचंद के पश्चात् हिंदी में समाजवादी धारा का कथासाहित्य — विक्रम
१२. आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य और नवीन जागर्ति (१९१९-१९५२) — राजस्थान

१३. प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हिंदी कथा-साहित्य में मध्यवर्ग — लखनऊ
१४. छायावादी युग का कथा-साहित्य — विक्रम
१५. हिंदी-कथासाहित्य और प्रकृति — विक्रम
१६. जासूसी-साहित्य — लखनऊ

उपन्यास—

१७. हिंदी-उपन्यास : पृष्ठभूमि और परंपरा—१८८१-१९१७ — भागलपुर
१८. हिंदी-उपन्यास : उद्भव और विकास — पटना
१९. हिंदी-उपन्यास का विकास — ०
२०. हिंदी-उपन्यास का विकास और विभिन्न प्रवृत्तियाँ—एक आलोचनात्मक अध्ययन — लखनऊ
२१. हिंदी-उपन्यास का विकास और नैतिकता — ०
२२. उन्नीसवीं शताब्दी के हिंदी-उपन्यास — प्रयाग
२३. प्रेमचंद-पूर्व हिंदी-उपन्यास — ०
२४. उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों में प्रतिबिंबित समाज — राँची
२५. द्विवेदी-युग के उपन्यासों का अध्ययन — ०
२६. प्रेमचंदयुगीन उपन्यासों का शिल्प-विधान — सागर
२७. प्रेमचंद तथा प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यास की प्रवृत्तियाँ और प्रभाव — ०
२८. प्रेमचंद और उनके परवर्ती उपन्यासकारों की प्रमुख रचनाओं में प्रतिदर्शित उपन्यास-शैली — आगरा
२९. प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यास — ०
३०. प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यास — सागर
३१. प्रेमचंदोत्तर उपन्यास-साहित्य की मूल प्रवृत्तियों का वर्गीकरण एवं विश्लेपण—१९३७-१९५७ — आगरा
३२. प्रेमचंद-परवर्ती हिन्दी-उपन्यास के प्रेरक स्रोत — दिल्ली
३३. प्रेमचंदोत्तर समाजवादी विचारधारा के उपन्यास — सागर
३४. प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यास की प्रवृत्तियाँ — आगरा
३५. प्रेमचंद के परवर्ती उपन्यास-साहित्य में सामाजिक समस्याएँ — लखनऊ
३६. प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यासों में संक्रमणशील परिस्थितियों का चित्रण — आगरा
३७. प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यासों का वस्तुरूपात्मक विकास — काशी
३८. प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यासों में मध्यकालीन जीवन — गोरखपुर
३९. प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन — लखनऊ
४०. प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज — पंजाब
४१. प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यासों में नायक का विकास — नागपुर

४२. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-उपन्यास लखनऊ
४३. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-उपन्यासों के वस्तु एवं कला पक्षों का अध्ययन सागर
४४. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-उपन्यास-साहित्य—परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों का एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन आगरा
४५. ऐतिहासिक उपन्यासों का और उस संदर्भ में विशेषकर हिंदी में लिखे गये इसी जाति के उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन आगरा
४६. हिंदी के ऐतिहासिक-उपन्यास-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन ०
४७. हिंदी-साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास विक्रम
४८. हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का प्रयोग प्रयाग
४९. हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यास काशी
५०. हिंदी-साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास सागर
५१. हिंदी-साहित्य में गार्हस्थिक उपन्यास सागर
५२. हिंदी के कौतूहलप्रधान (अय्यारी, तिलस्मी और जासूसी) उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन आगरा
५३. हिंदी के जासूसी और तिलस्मी उपन्यास—मनोवैज्ञानिक व सामाजिक अध्ययन राजस्थान
५४. हिंदी-उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन लखनऊ
५५. हिंदी-उपन्यास और राजनैतिक आंदोलन लखनऊ
५६. हिंदी-उपन्यासों में राष्ट्रीय चेतना लखनऊ
५७. हिंदी-उपन्यास में राष्ट्रीय भावना दिल्ली
५८. हिंदी-उपन्यासों में राष्ट्रीय भावना का क्रमिक विकास (सन् १९४७ तक की कृतियों के आधार पर) आगरा
५९. हिंदी के स्वच्छंदतावादी उपन्यास ०
६०. हिंदी के भावुकताप्रधान उपन्यास पटना
६१. हिंदी के आधुनिक उपन्यासों से शृंगार-चित्रण सागर
६२. (प्रेमचंद के विशेष संदर्भ में) आधुनिक हिंदी-उपन्यासों में यथार्थवाद का विकास प्रयाग
६३. हिंदी-उपन्यासों में यथार्थवाद का आरंभ और विकास—एक अनुशीलन सागर
६४. हिंदी-उपन्यासों में यथार्थवाद—भारतेंदु हरिश्चंद्र से १९६१ तक प्रयाग
६५. हिंदी-उपन्यासों में यथार्थवाद लखनऊ
६६. बीसवीं शताब्दी के हिंदी-उपन्यासों का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अध्ययन ०
६७. हिंदी-उपन्यास की सामाजिक पृष्ठभूमि लखन–

६८. हिंदी-उपन्यास : सामाजिक आधारभूमि—१९१६ से १९४७ तक अलीगढ़
६९. हिंदी-उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अनुशीलन विक्रम
७०. हिंदी-उपन्यासों में सामाजिक विषय-वस्तु प्रयाग
७१. हिंदी में सामाजिक उपन्यास लखनऊ
७२. हिंदी-उपन्यासों में ग्राम-समस्या उस्मानिया
७३. हिंदी-उपन्यासों की नवीन दिशाएं विक्रम
७४. हिंदी-उपन्यास-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन ०
७५. हिंदी-उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास प्रयाग
७६. हिंदी-उपन्यास के शिल्प-विधान का विकास (१९१७ से १९५८ तक) पंजाब
७७. हिंदी-उपन्यासों के रचना-विधान का विकास और नायकत्व काशी
७८. हिंदी-उपन्यासों की शिल्पविधि का विकास ०
७९. हिंदी-उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास दिल्ली
८०. हिंदी-उपन्यासों में कथा-शिल्प का विकास ०
८१. हिंदी-उपन्यास में कथानक आगरा
८२. हिंदी-उपन्यासों की वस्तु-योजना का आलोचनात्मक अध्ययन प्रयाग
८३. हिंदी-उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का विकास ०
८४. हिंदी-उपन्यासों के चरित्रों के प्रकार और उनका विकास ०
८५. आधुनिक हिंदी-उपन्यास की कुछ प्रमुख नायिकाओं का समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन सागर
८६. हिंदी-उपन्यास में नायक की परिकल्पना ०
८७. हिंदी-उपन्यास के नायकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन सागर
८८. हिंदी के लघु उपन्यास प्रयाग
८९. हिंदी-उपन्यास में वातावरण-तत्त्व का योग कुरुक्षेत्र

कहानी—

९०. हिंदी-कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन ०
९१. हिंदी में लघु कथा का विकास नागपुर
९२. आधुनिक हिंदी-साहित्य में आख्यायिका के विकास का विवेचनात्मक अध्ययन ०
९३. हिंदी का आधुनिक गल्प-साहित्य और प्रसाद राजस्थान
९४. प्रेमचंद-पूर्व हिंदी-कहानी-साहित्य का विकास लखनऊ
९५. प्रेमचंदोत्तर कहानी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ लखनऊ
९६. हिंदी-कहानियों की शिल्पविधि का विकास और उद्गम-स्रोत ०

वर्ग १२—निबंध और आलोचना

निबंध—

१. हिंदी-निबंध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन ०
२. हिंदी-साहित्य में निबंध का विकास ०
३. आधुनिक हिंदी-साहित्य में निबंध का विकसा राजस्थान
४. हिंदी का निबंध-साहित्य पटना
५. व्यक्तिवादी निबंध (पर्सनल एस्से) के विकास का ऐतिहासिक तथा विश्लेपणात्मक अध्ययन पटना
६. हिंदी-निबंध तथा सजातीय गद्यरूपों का अध्ययन सागर

आलोचना—

७. हिंदी-साहित्य में आलोचना का उद्भव और विकास ०
८. हिंदी-आलोचना का विकास आगरा
९. हिंदी-समालोचना का विकास नागपुर
१०- हिंदी में साहित्य-समीक्षा का विकास (१९००-५०) सागर
११. आधुनिक हिंदी-साहित्य में आलोचना का विकास (१८६८-१९४३) ०
१२. व्रजभाषा-साहित्य में प्राप्त व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप विक्रम
१३. आधुनिक हिंदी-साहित्य में समालोचना का विकास ०
१४. आधुनिक हिंदी-आलोचना ०
१५. आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ ०
१६. आधुनिक हिंदी-समीक्षापद्धतियों का विकासात्मक विवेचन सागर
१७. १९०० से १९५० तक हिंदी में समीक्षा का विकास लखनऊ
१८. हिंदी-साहित्य में आलोचना और आलोचनात्मक चेतना के मूल तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन आगरा
१९. हिंदी में मनोवैज्ञानिक आलोचना का उद्भव और विकास गोरखपुर
२०. आधुनिक हिंदी-आलोचना में परंपरा, स्वच्छंदता और वाद सागर
२१. हिंदी-साहित्य में सामाजिक आलोचना के तत्त्व (भारतेंदु-युग से प्रेमचंद तक) पटना
२२. हिंदी-साहित्य में स्वच्छंदतावादी समीक्षा और साहित्य-चिंतन सागर
२३. शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना आगरा
२४. हिंदी-आलोचना को छायावादी कवियों की देन लखनऊ

वर्ग १३—इतिहास-विकास

१. हिंदी-साहित्य के इतिहास के विभिन्न स्रोतों का विवेचन—सं० १६४९ से १९४५ आगरा

२. हिंदी-साहित्य में इतिहास का उद्भव और विकास — पंजाब
३. 'शिवसिंह सरोज' में दिये कवियों-संबंधी तथ्य एवं तिथियों का आलोचनात्मक परीक्षण — ०
४. हिंदी-साहित्य का तिथिक्रम — पटना
५. हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (७५० वि० से १७०० वि०) — ०
६. आदिकालीन हिंदी-साहित्य के इतिहास का नवीन खोजों के आधार पर पुनर्मूल्यांकन (१००० से १४०० ई० तक) — काशी
७. ब्रजभाषा-गद्य का विकास — आगरा
८. राजस्थानी के गद्य-साहित्य का इतिहास और विकास — ०
९. मैथिली-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक) और उस पर अँगरेजी का प्रभाव (अँगरेजी-विभाग) — ०
१०. सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों की अवस्था का हिंदी-साहित्य के आधार पर अध्ययन (अँगरेजी) — ०
११. सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों के हिंदी-साहित्य द्वारा इतिहास पर प्रकाश — लखनऊ
१२. हिंदी-साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका — ०
१३. आधुनिक हिंदी-साहित्य (१८५० से १९०० ई०) — ०
१४. हिंदी-साहित्य का विकास (१९०० से १९२५ ई०) — ०
१५. हिंदी-साहित्य (१९२६ से १९४७ ई०) — ०
१६. हिंदी-साहित्य (१९२५-५० ई०) — पटना
१७. प्रेमचंद के पश्चात् हिंदी-साहित्य का विकास — सागर
१८. ऐतिहासिक उपन्यासों तथा नाटकों में इतिहास का उपयोग — प्रयाग

वर्ग १४—संप्रदाय और पंथ

१. पंजाब के गोसाईं-संप्रदाय के हिंदी-कवि — दिल्ली
२. चैतन्य-संप्रदाय का हिंदी के कृष्णभक्ति साहित्य पर प्रभाव—१६००-१७०० — अलीगढ़
३. चैतन्य संप्रदाय की हिंदी-कविता — बड़ौदा
४. मध्ययुगीन हिंदी-कृष्णभक्तिधारा और चैतन्य-संप्रदाय — ०
५. जसनाथी संप्रदाय — गोरखपुर
६. तुराकलंगी संप्रदाय द्वारा हिंदी-साहित्य-सेवा — आगरा
७. दादूपंथ के इतिहास और साहित्य का अध्ययन — लखनऊ
८. दादूपंथ और उसका साहित्य — आगरा

९.	बाबा धरणीदास और उनके संप्रदाय का अध्ययन	आगरा
१०.	नाथ-संप्रदाय और गोरखनाथ का हिंदी भाषा और साहित्य पर प्रभाव	गोरखपुर
११.	नाथ-संप्रदाय का मध्यकालीन हिंदी भाषा और साहित्य पर प्रभाव	०
१२.	नाथ-संप्रदाय के हिंदी-कवि	०
१३.	स्वामी नारायण संप्रदाय का हिंदी-साहित्य	आनंद
१४.	निंबार्क-संप्रदाय और उसके कृष्णभक्त हिंदी-कवि	०
१५.	हिंदी-साहित्य पर निंबार्क-संप्रदाय का प्रभाव	प्रयाग
१६.	निंबार्क-संप्रदाय और उसका हिंदी-कृष्णभक्ति-काव्य पर प्रभाव	लखनऊ
१७.	राजस्थान का निरंजन-संप्रदाय	राजस्थान
१८.	निर्गुणमार्गी भक्तों के निरंजनी संप्रदाय का आलोचनात्मक अध्ययन	काशी
१९.	हिंदी-काव्य में निर्गुण-संप्रदाय	०
२०.	हिंदी-साहित्य के निर्गुण-संप्रदाय (१५ वीं और १६ वीं शताब्दी) में मधुरा भक्ति के तत्त्व	अलीगढ़
२१.	संत-कवि पलटूदास और संत-संप्रदाय	०
२२.	संत-कवि पलटूदास और निर्गुण संप्रदाय	आगरा
२३.	संत पलटूदास और उनका संप्रदाय	लखनऊ
२४.	संत पलटूदास और पलटू-पंथ	आगरा
२५.	बावरी-संप्रदाय के हिंदी-कवि	०
२६.	महात्मा युगलचंदशरण और उनके संप्रदाय में शृंगारी रामभक्त	गोरखपुर
२७.	संतकवि रविदास और उनका पंथ	०
२८.	रामभक्ति में रसिक-संप्रदाय	०
२९.	राधागोस्वामी-पंथ और उसका साहित्य	आगरा
३०.	राधावल्लभ-संप्रदाय के संदर्भ में हित हरिवंश का विशेष अध्ययन	०
३१.	रामसनेही-संप्रदाय	०
३२.	रामानंद-संप्रदाय तथा हिंदी-साहित्य पर उसका प्रभाव	०
३३.	रामानंद-संप्रदाय के कुछ अज्ञात कवि और उनकी रचनाएँ	आगरा
३४.	वल्लभ-संप्रदाय के अष्टछाप कवियों (विशेषकर परमानंददास और नंददास) का अध्ययन	०
३५.	वल्लभ-संप्रदाय में मधुररस	काशी
३६.	श्रीवल्लभ-संप्रदायी अष्टमपीठस्थ भक्त साहित्यकारों की साधना (आद्याचार्य श्री लालजी और केवलराम जी का प्रमुख अध्ययन तथा पीठ के अन्य साहित्यकारों का सामान्य परिचय)	आगरा

३७. गोस्वामी विट्ठलदास और उनके शिष्य कवि — सागर
३८. शिवनारायणी संप्रदाय और उसका हिंदी-काव्य — ०
३९. संत-संप्रदाय और नाथ-संप्रदाय के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
४०. सतनामी संप्रदाय — गोरखपुर
४१. सतनामी संप्रदाय के हिंदी-कवि — लखनऊ
४२. साध-संप्रदाय — आगरा
४३. सिक्ख-गुरुओं के साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि — पंजाब
४४. स्वामी नारायण संप्रदाय (गुजरात का १७वीं शती वि० का कृष्णभक्ति-संप्रदाय) का हिंदी-काव्य — आगरा
४५. स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी-साहित्य — ०
४६. हरिदासी संप्रदाय के हिंदी-कवि — लखनऊ
४७. वृन्दावन की रसोपासना (वृन्दावन के सखीभावोपासक-संप्रदायों के काव्य की भूमिका) — आगरा
४८. स्वामी प्राणनाथ और धामी संप्रदाय का साहित्य — सागर
४९. श्री वंशी अली जी का संप्रदाय (ललित-संप्रदाय)—सिद्धांत और साहित्य — आगरा

वर्ग १५—समुदायविशेष

१. अवध के प्रमुख हिंदी-कवियों का अध्ययन (सं० १७०० से १९०० तक) — ०
२. हिंदी-साहित्य को मध्यप्रदेश की देन — विक्रम
३. व्रजभाषा-साहित्य को राजस्थान की देन (राजस्थान का पिंगल-साहित्य) — ०
४. बैसवाड़े के हिंदी-कवि — ०
५. हिंदी-साहित्य को मत्स्यप्रदेश की देन — ०
६. हिंदी-काव्य को काशी की देन — काशी
७. वृंदावन की हिंदी-साहित्य को देन — आगरा
८. उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में कानपुर के प्रमुख कवि—सुकविमंडल के कवियों का विशेष अध्ययन — लखनऊ
९. 'प्रभा' तथा 'प्रताप' के कवि और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का विशेष अध्ययन — सागर
१०. सीतापुर जिले के हिंदी-कवि—एक अध्ययन — लखनऊ
११. मध्यप्रदेश का आधुनिक हिंदी-काव्य — सागर
१२. हिंदी-साहित्य को कूर्मांचल की देन — आनंद
१३. बुंदेलखंड का वीरकाव्य — सागर

१४. बुंदेलखंडी पद-साहित्य — आगरा
१५. कुमायूं के जैन-साहित्य का अध्ययन—नैनीताल-अल्मोड़ा क्षेत्र ? — आगरा
१६. अकबरी दरबार के हिंदी-कवि — ०
१७. हिंदी-साहित्य में हिंदू राजकीय परिवारों का योगदान — गोरखपुर
१८- राजस्थान के राजघरानों द्वारा हिंदी-साहित्य की सेवाएं तथा उनका साहित्यिक मूल्यांकन — ०
१९. रीवां-दरबार के हिंदी-कवि — ०
२०. रीवां-दरबार के हिंदी-कवि — लखनऊ
२१. पन्ना-दरबार के कवि—लाल कवि के विशेष अध्ययन के साथ: १९०० तक — सागर
२२. अमेठी राज्य के हिंदी-कवि (जायसी को छोड़कर) — आगरा
२३. अमेठी-दरबार के प्रमुख कवि — लखनऊ
२४. काशीराज्य के कवि और उनका काव्य — आगरा
२५. बुंदेलखंड के नरेश-कवि — आगरा
२६. ओरछा-दरबार के हिंदी-कवि — आगरा
२७. ओरछा के हिंदी-कवि — लखनऊ
२८. अयोध्या-दरबार के कवि (१८०० से १८५०) — आगरा
२९. संगरूर दरबार के कवियों की १९वीं शती के ब्रजभाषा-साहित्य को देन—कवि मृगेंद्र के 'प्रेमपयोनिधि' के विशेष अध्ययन के आधार पर — पंजाब
३०. भोंसला राजाओं से संबंधित, संमानित एवं आश्रय-प्राप्त हिंदी कवि — पूना
३१. भगवंतराय खीची और उनके मंडल के कवि — ०
३२. मिश्रबंधु और उनका साहित्य—एक अध्ययन — ०
३३. गुप्तबंधुओं की साहित्यिक देन — लखनऊ
३४. मैथिली के कृष्णभक्त कवियों का अध्ययन — ०
३५. भोजपुरी के संतकवि — आगरा
३६. गुजरात की हिंदी-सेवा — ०
३७. गुजरात के कवियों की हिंदी-काव्य-साहित्य को देन — ०
३८. गुजराती कवियों की हिंदी-साहित्य को देन — अलीगढ़
३९. हिंदी को मराठी संतों की देन — ०
४०. राजस्थानी संतकवि—उनका दर्शन तथा साहित्य — राजस्थान
४१. राजस्थानी वीर-गीत — राजस्थान
४२. राजस्थानी दोहा — राजस्थान
४३. (ग्रंथसाहिब के आधार पर) सिख-गुरुओं का हिंदी को निर्गुण-काव्य-

धारा को योगदान प्रयाग
४४. मुसलमान भक्तकवि लखनऊ
४५. दक्खिनी के सूफी लेखक ०

वर्ग १६—सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन

१. हिंदी-साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति ०
२. मध्ययुगीन कविता में सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्ष बंबई
३. मध्यकालीन हिंदी-कविता में भारतीय संस्कृति (१७०० से १६००) ०
४. मध्यकालीन हिंदी-कविता (१४००-१६००) में भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व गोरखपुर
५. मध्यकालीन हिंदी-साहित्य में चित्रित समाज ०
६. मध्यकालीन हिंदी-साहित्य का सामाजिक दृष्टि से अध्ययन लखनऊ
७- इस्लामी संस्कृति का मध्ययुगीन हिंदी-साहित्य में योग काशी
८. 'कवित्रय' (कबीर, सूर, तुलसी) : सामाजिक पक्ष ०
९. हिंदी-संत-काव्य की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि ०
१०. संत-काव्य (१४००-१७०० ई०) में सामाजिक चित्रण लखनऊ
११. निर्गुण-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ०
१२. हिंदी-साहित्य के प्रेमगाथा-काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन आगरा
१३. हिंदी-सूफ़ी-काव्य में भारतीय संस्कृति आगरा
१४. सगुणभक्तिकाव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ०
१५. अष्टछाप के आधार पर तत्कालीन समाज और संस्कृति का अध्ययन आगरा
१६. अष्टछाप-कवियों के काव्य (विशेषकर सूर-साहित्य) में वर्णित ब्रज-संस्कृति ०
१७. अष्टछाप कवियों की कविता का सांस्कृतिक अध्ययन ०
१८. ब्रज के सोलहवीं शती के हिंदी-कृष्णभक्तकवियों के काव्य में भारतीय संस्कृति का चित्रण आगरा
१९. कृष्ण-काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति दिल्ली
२०. हिंदी-रामकाव्य की सामाजिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि (१६वीं तथा १७वीं शती) ०
२१. रीतिकालीन काव्य का सांस्कृतिक और सामाजिक अध्ययन अलीगढ़
२२. रीतिकालीन हिंदी-साहित्य में सामाजिक चित्रण आगरा
२३. रीतिकालीन हिंदी-कविता में सामाजिक चित्रण प्रयाग
२४. रीतिकाव्य में पारिवारिक वातावरण पटना
२५. आधुनिक सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन से आधुनिक हिंदी-

कविता का अध्ययन (भारतेंदु-युग से १९३६ तक) काशी
२६. आधुनिक हिंदी-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि (१८५७-१९२०) आगरा
२७. आधुनिक हिंदी-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि (१९२०-१९४७) आगरा
२८. सामाजिक वातावरण के विशिष्ट संदर्भ में आधुनिक हिंदी-साहित्य की समालोचना ०
२९. आधुनिक सामाजिक आंदोलन एवं आधुनिक साहित्य (१९००-१९५० ई०) ०
३०. आधुनिक हिंदी-कविता में समाज (१८५०-१९५० ई०) ०
३१. द्विवेदी-युग के काव्य का सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष सागर
३२. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-कविता के आधार पर भारतीय सामाजिक जीवन का अध्ययन पटना

वर्ग १७—लोकसाहित्य, लोकसंस्कृति और लोकतत्त्व

१. ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन ०
२. ब्रज के देवी-देवताओं से संबद्ध लोकसाहित्य का अध्ययन आगरा
३. ब्रजलोकचित्रकला-निबद्ध लोकसाहित्य आगरा
४. अवधी का लोकसाहित्य विक्रम
५. अवधी-ग्रामसाहित्य लखनऊ
६. बैसवाड़ी के साहित्यकार (कवि, आलोचक, नाटककार, कथाकार) लखनऊ
७. खड़ीबोली के लोकसाहित्य का अध्ययन ०
८. खड़ीबोली-प्रांत का लोकसाहित्य आगरा
९. भोजपुरी लोकसाहित्य ०
१०. भोजपुरी साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रयाग
११. मगही बोली का लोकसाहित्य पटना
१२. मालव-लोकसाहित्य ०
१३. बुंदेलखंडी लोकसाहित्य नागपुर
१४. बुंदेली लोकसाहित्य विक्रम
१५. बुंदेली लोकसाहित्य जबलपुर
१६. बुंदेलखंड के अज्ञात लोककवि : जीवन, ग्रंथ एवं तुलनात्मक अध्ययन आगरा
१७. बघेली लोकसाहित्य का अध्ययन ०
१८. छत्तीसगढ़ी लोकजीवन और साहित्य का अध्ययन विक्रम
१९. छत्तीसगगढ़ी लोकसाहित्य का अध्ययन नागपुर
२०. हरियाना प्रदेश का लोकसाहित्य ०
२१. बाँगरू का लोकसाहित्य आगरा

२२.	मेवाड़ी लोकसाहित्य	राजस्थान
२३.	पश्चिमी पर्वतीय लोकसाहित्य	पंजाब
२४.	कुल्लवी लोकसाहित्य	पंजाब
२५.	हिंदी के आदिकाल के लौकिककाव्य का अध्ययन	प्रयाग
२६.	मध्यकालीन जैन-लोककवियों की हिंदी-सेवा	जबलपुर
२७.	मालवी लोकगीत	०
२८.	राजस्थानी लोकगीत	०
२९.	मेरठ जनपद के लोकगीतों का अध्ययन	०
३०.	मेरठ जनपद के संस्कार-विषयक लोकगीत	आगरा
३१.	भोजपुरी और अवधी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
३२.	भोजपुरी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन	आगरा
३३.	मैथिली लोकगीतों का अध्ययन	०
३४.	मैथिली लोकगीत	०
३५.	राजस्थानी नारी-लोक-गीत	राजस्थान
३६.	पंजाबी लोकगीत	आगरा
३७.	खड़ीबोली के लोकगीत	अलीगढ़
३८.	बुलंदशहर के संस्कारसंबंधी लोकगीतों का मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग के आधार पर अध्ययन	०
३९.	हड़ौती लोकगीत	विक्रम
४०.	ब्रज और बुंदेली लोकगीतों में कृष्णवार्ता	०
४१.	आगरा जिले के लोकगीतों का शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
४२.	(हिंदी की उपभाषा) कुमायूँनी के कवियों (१८००- १९६० ई०) का आलोचनात्मक अध्ययन	आगरा
४३.	कुमायूँ के लोकगीत	लखनऊ
४४.	संस्कार-संबंधी लोकगीत (बुलंदशहर तथा निम्नवर्गीय परिवारों से प्राप्त गीतों के आधार पर)	आगरा
४५.	बुंदेलखंड के लोकगीत तथा लोककवि ईसुरी का विशेष अध्ययन	आगरा
४६.	बुंदेलखंड प्रदेश के लोकगीत	सागर
४७.	भारतीय लोककथाएँ	विक्रम
४८.	हिंदी की क्षेत्रीय लोककथाओं के कथानक रूप तथा अभिप्राय	आगरा
४९.	भोजपुरी लोकगाथा	०
५०.	भोजपुरी लोकगाथा-साहित्य का तात्त्विक तथा तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
५१.	राजस्थानी लोकगाथाएँ	०
५२.	पंजाबी की लोक-कथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	पंजाब

५३. कुमायूँ के जन-साहित्य का अध्ययन (नैनीताल-अल्मोड़ा क्षेत्र) ०
५४. कुमायूँ की लोकगाथाओं का अध्ययन तथा भोजपुरी लोकगाथाओं के साथ उनकी तुलना आगरा
५५. लोककथा लोरिकायन पटना
५६. कुरु-प्रदेश की स्वाँग-कला आगरा
५७. राजस्थानी लोकनाटक (ख्याल-साहित्य) का एक अध्ययन ०
५८. हिंदी में लोकनाटच-शिल्प का विकास पटना
५९. हिंदी में लोकनाटच-परंपरा दिल्ली
६०. लोकनाटकों में धार्मिक तत्त्व पटना
६१. प्रेमाख्यान-काव्य में लोकसंस्कृति लखनऊ
६२. रीतियुगीन काव्य में लोकजीवन लखनऊ
६३. अवधी-साहित्य और लोकसंस्कृति नागपुर
६४. अवधी-लोकसाहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा सामाजिक अध्ययन प्रयाग
६५. प्रेमचंद के समवर्ती कथा-साहित्य में लोकसंस्कृति लखनऊ
६६. उत्तरभारतीय लोकगीतों का समाजशास्त्रीय अनुशीलन सागर
६७. अवधी-लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन प्रयाग
६८. कुमायूँनी लोकगीतों एवं लोककथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन आगरा
६९. कुमायूँ के लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन अलीगढ़
७०. इलाहाबाद तथा प्रतापगढ़ जिलों के लोकसाहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा भाषागत अध्ययन प्रयाग
७१. अलीगढ़ तथा मथुरा जिलों के लोकसाहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा भाषागत अध्ययन प्रयाग
७२. बघेलखंड प्रदेश की लोकोक्तियाँ, मुहावरे और लोककथाएँ ०
७३. भोजपुरी कहावतों का सांस्कृतिक अध्ययन ०
७४. कुमायूँनी और गढ़वाली कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
७५. हरियाना की लोकसंस्कृति और साहित्य पंजाब
७६. कन्नौजी बोली के साहित्य में सामाजिक प्रतिबिंब आगरा
७७. बाँगरू बोली (रोहतक जिले के आधार पर) में सामाजिक स्तरों तथा संबंधों की अभिव्यक्ति आगरा
७८. मध्ययुगीन हिंदी-साहित्य के प्रेमगाथाकाव्य और भक्तिकाव्य में लोकवार्ता-तत्त्व ०
७९. हिंदी-भक्तिसाहित्य में लोकतत्त्व ०
८०. हिंदी-उपन्यासों में लोकतत्त्व ०

८१. वैतालपचीसी और उसकी हिंदी-परंपरा का लोकसाहित्य की दृष्टि से अध्ययन — आगरा
८२. सिंहासनबतीसी तथा उसकी हिंदी-परंपरा का लोक-साहित्य की दृष्टि से अध्ययन — आगरा
८३. हिंदी-साहित्य में लोकतत्त्व — प्रयाग
८४. हिंदी संत-काव्य (१४५०-१७०० ई०) में लोकतत्त्व — प्रयाग
८५. संत-काव्य का लोकतात्त्विक अध्ययन — आगरा
८६. हिंदी-संत-साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि — प्रयाग
८७. सूफी प्रेमकाव्यों में लोकतत्त्व — विक्रम
८८. सूरसागर का लोकतात्त्विक अध्ययन — आगरा
८९. रामचरितमानस का लोकतात्त्विक अध्ययन — आगरा
९०. हिंदी-नाटकों (१९४७ तक) का लोकतात्त्विक अध्ययन — आगरा
९१. हिंदी-उपन्यास का लोकतात्त्विक अध्ययन — आगरा
९२. हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में लोकतत्त्व — आगरा
९३. मालवी एवं निमाड़ी प्रहेलिका-साहित्य — विक्रम
९४. ब्रज की लोककथाएँ — आगरा

वर्ग १८—नारियों का योगदान और नारी-चित्रण

१. हिंदी-साहित्य के विकास में महिलाओं का योगदान — नागपुर
२. मध्यकालीन हिंदी-कवयित्रियाँ — ०
३. आधुनिक हिंदी-साहित्य के विकास में नारियों का योगदान (संवत् १९००-२०००) — दिल्ली
४. हिंदी-साहित्य को नारी कलाकारों की देन—१९२० से १९६० तक — सागर
५. आधुनिक हिंदी-काव्य के विकास में स्त्रियों का योगदान — गोरखपुर
६. विगत शताब्दी की हिंदी-कवयित्रीं एवं कहानी-लेखिकाएँ (१८६०-१९६०) — आगरा
७. आधुनिक हिंदी-साहित्य में कवयित्रियाँ (संवत् १९००-२०००) — गुजरात
८. अवध की हिंदी-कवयित्रियाँ — लखनऊ
९. हिंदी के गद्य और कथा-साहित्य में स्त्रियों का कार्य — गोरखपुर
१०. हिंदी की गद्य-लेखिकाएँ — आनंद
११. हिंदी-कथासाहित्य को नारियों की देन — लखनऊ
१२. हिंदी-कथासाहित्य के विकास में नारियों का योग—सं० १९२५ से अब तक — आगरा
१३. हिंदी-प्रबंधकाव्यों में नारी — उस्मानिया

१४.	हिंदी के प्रमुख प्रबंधकाव्यों में नारी का स्वरूप	पंजाब
१५.	हिंदी-महाकाव्यों में नारी-चित्रण	०
१६.	मध्ययुगीन साहित्य में नारी	०
१७.	मध्यकालीन काव्य में नारी-भावना	०
१८.	भक्तिकाल में नारी-चित्रण	आगरा
१९.	भक्तिकालीन काव्य में नारी	०
२०.	रीतिकाल में नारी-चित्रण	नागपुर
२१.	रीति-साहित्य में नारी-भावना	काशी
२२.	आधुनिक हिंदी-साहित्य में नारी (१८५० से १९३६ ई०)	०
२३.	आधुनिक हिंदी-साहित्य में नारी	०
२४.	आधुनिक हिंदी-साहित्य में नारी-चित्रण (सन् १८५०-१९५० तक)	०
२५.	आधुनिक हिंदी-काव्य (१९००-१९४५ ई०) में नारी-भावना	०
२६.	छायावादी हिंदी-काव्य और नारी	आगरा
२७.	हिंदी-नाटकों में नारी	आगरा
२८.	आधुनिक हिंदी-नाटकों में नारी-चित्रण	०
२९.	आधुनिक हिंदी-नाटकों मे नारी-चित्रण (बाबू हरिश्चंद्र से लेकर 'अश्क' तक)	आगरा
३०.	प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य में नारी-भावना	लखनऊ
३१.	हिंदी-उपन्यासों में नारी	०
३२.	हिंदी-उपन्यास में नारी-चित्रण	०
३३.	हिंदी-उपन्यास में नारी	लखनऊ
३४.	हिंदी-उपन्यासों में नारी-चित्रण	नागपुर
३५.	आधुनिक हिंदी-कथासाहित्य में नारी का सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विकास	जबलपुर
३६.	आधुनिक हिंदी-उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना	प्रयाग
३७.	प्रेमचंद और वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यासों के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन	लखनऊ
३८.	जैनेंद्र के उपन्यासों में नारी-पात्र	पूना
३९.	आधुनिक भारतीय समाज में नारी और प्रसाद के नारी-पात्र	०

वर्ग १९—तुलनात्मक अध्ययन

१.	अवधी, व्रज और भोजपुरी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	०
२.	हिंदी-काव्य में बिंब-विधान का तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन	पटना

३. प्राचीन और नवीन रहस्यवादी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — सागर
४. प्राचीन और नवीन हिंदी-कहानी की रचना-प्रक्रिया का तुलनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
५. सूफ़ी और अ-सूफ़ी प्रेमाख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन — ०
६. सूफ़ी तथा अन्य प्रेमाख्यानक-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
७. नाथ और संत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — ०
८. विद्यापति तथा सूरदास की भक्ति तथा शृंगार-भावना—एक तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
९. कबीर और कबीर-पंथ का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१०. कबीर, नानक और दादू का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
११. हिंदी-संत-साहित्य के तत्कालीन तथा परंपरागत तत्त्वों का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
१२. महाराष्ट्रीय संतों की हिंदी-कविता एवं उत्तरभारतीय संतकविता से उसका तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय तथा साहित्यिक विवेचन — विक्रम
१३. मध्ययुगीन हिंदी-साहित्य में शृंगार-प्रसाधन और तत्कालीन मूर्तिकला तथा चित्रकला में प्राप्त सामग्री से तुलना (१५००-१८००) — प्रयाग
१४. मध्यकालीन भक्तिकाव्य की साहित्यिक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन — काशी
१५. हिंदी-गतिकाव्य-परंपरा में मीराँ और महादेवी—एक तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१६. हिंदी-आलोचना के विकास का तुलनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
१७. द्विवेदीयुगीन खड़ीबोली एवं ब्रजभाषा काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
१८. छायावाद के संदर्भ में कवि प्रसाद और पंत का तुलनात्मक अध्ययन — विक्रम
१९. प्राचीन और नवीन हिंदी-कहानी की रचना-प्रक्रिया का तुलनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
२०. प्रसाद तथा प्रेमचंद के कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
२१. प्रेमचंद तथा प्रेमचंद-परवर्ती हिंदी-उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली
२२. आधुनिक हिंदी-काव्य पर गांधीवादी एवं मार्क्सवादी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — सागर

हिंदी एवं अहिंदी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन—

२३. संस्कृत और हिंदी के प्रमुख काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन — पटना
२४. संस्कृत और हिंदी काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा

२५. संस्कृत और आधुनिक हिंदी नाट्यशिल्प का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
२६. उपनिषदों तथा हिंदी-काव्यों की निर्गुणधारा का तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन (संस्कृत) — ०
२७. हिंदी और फ़ारसी सूफ़ी-काव्य—एक तुलनात्मक अध्ययन — पंजाब
२८. हिंदी और उर्दू गद्य का विकास (१८००-१९०० तक) भाषा और साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
२९. हिंदी और उर्दू काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
३०. हिंदी और उर्दू के पद्य-साहित्य (सं० १७००-१९००) की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
३१. आधुनिक हिंदी और उर्दू काव्य की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन—सन् १९०० से १९६० तक — आगरा
३२. हिंदी और उर्दू काव्य (१७५८-१८५०) का तुलनात्मक अध्ययन — पटना
३३. हिंदी और उर्दू के प्रेमाख्यानक काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली
३४. रीतिकालीन हिंदी तथा उर्दू काव्य में विरह-वर्णन (१८वीं शताब्दी)—तुलनात्मक अध्ययन — अलीगढ़
३५. हिंदी-साहित्य में रीतिमुक्त काव्य-धारा एवं उर्दू-साहित्य में ग़ालिब-युगीन काव्य-धारा का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
३६. उन्नीसवीं शताब्दी के हिंदी और उर्दू काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
३७. २०वीं शती के प्रथम चरण के हिंदी और उर्दू साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
३८. बँगला, मराठी और गुजराती के रंगमंच के संदर्भ में हिंदी रंगमंच और नाटकों का विशेष अध्ययन — आगरा
३९. हिंदी और मराठी की मानवतावादी तथा राष्ट्रवादी काव्य-प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अनुशीलन — नागपुर
४०. हिंदी और मराठी के संत-कवियों का तुलनात्मक अध्ययन — ०
४१. हिंदी और मराठी का निर्गुण-काव्य (११वीं से १५वीं शती)—तुलनात्मक अध्ययन — ०
४२. मराठी और हिंदी के वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — सागर
४३. मराठी और हिंदी के कृष्णपरक वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (११वीं से १६वीं शती तक) — पंजाब
४४. मराठी-संतकवि नामदेव, ज्ञानेश्वर एवं तुकाराम और हिंदी-संतकवि कबीर, नानक एवं दादू का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
४५. हिंदी और मराठी के रामकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा

४६. हिंदी और मराठी के आधुनिक गीतिकाव्य का तुलनात्मक अनुशीलन — नागपुर
४७. हिंदी और मराठी कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — ०
४८. आधुनिक मराठी और हिंदी कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
४९. हिंदी तथा मराठी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (१९००–१९५० तक) — ०
५०. मराठी और हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यास — बंबई
५१. हिंदी और मराठी के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (१९००–१९६० तक) — आगरा
५२. हिंदी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (१९२०–१९४७) — बंबई
५३. हिंदी और मराठी के समस्यामूलक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — पूना
५४. हिंदी और मराठी के समस्या-नाटक : तुलनात्मक अध्ययन — पूना
५५. हिंदी और मराठी नाटक-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
५६. बीसवीं शताब्दी के मराठी और हिंदी नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — सागर
५७. हिंदी और मराठी के ऐतिहासिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन — पूना
५८. हिंदी और मराठी अलंकारशास्त्र — उस्मानिया
५९. आधुनिक हिंदी और मराठी काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन — ०
६०. गुजराती और हिंदी का भक्तिसाहित्य — बंबई
६१. हिंदी और गुजराती संतकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
६२. हिंदी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन — ०
६३. हिंदी तथा गुजराती पुष्टिमार्गी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
६४. हिंदी तथा गुजराती का रास-साहित्य — बड़ौदा
६५. गुजराती तथा हिंदी रामकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली
६६. हिंदी और गुजराती की राष्ट्रीय कविता का तुलनात्मक अध्ययन — आनंद
६७. हिंदी और गुजराती के वर्तमान गीतिकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन — आनंद
६८. हिंदी और गुजराती उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
६९. हिंदी और गुजराती के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
७०. स्वतंत्रता-पूर्व हिंदी और गुजराती के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
७१. आधुनिक हिंदी तथा गुजराती उपन्यास—तुलनात्मक अध्ययन — राजस्थान
७२. हिंदी और गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
७३. हिंदी और गुजराती के एकांकी-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — आनंद

७४. मध्यकालीन हिंदी और पंजाबी संतों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन ०
७५. हिंदी तथा पंजाबी के निर्गुणकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन ०
७६. पंजाबी तथा हिंदी में सूफी-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन पंजाब
७७. हिंदी-प्रेमाख्यान तथा पंजाबी किस्सा-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन पंजाब
७८. रंगमंच की दृष्टि से आधुनिक हिंदी और पंजाबी नाटक पंजाब
७९. पंजाबी और हिंदी के वार्ता-साहित्य में अभिप्राय ०
८०. हिंदी और सिंधी संत-कवियों का तुलनात्मक अध्ययन लखनऊ
८१. आधुनिक हिंदी और कश्मीरी कविता का तुलनात्मक अध्ययन (राष्ट्रीय और प्रगतिवादी साहित्य के विशिष्ट संदर्भ में) लखनऊ
८२. बँगला और हिंदी के भक्त-कवि—विशेषकर तुलसीदास का अध्ययन कलकत्ता
८३. आधुनिक हिंदी और बँगला काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन दिल्ली
८४. आधुनिक हिंदी और बँगला गद्य-शैलियों का तुलनात्मक अध्ययन दिल्ली
८५. हिंदी और बँगला के वैष्णव कवियों (सोलहवीं शताब्दी) का तुलनात्मक अन्ययन ०
८६. स्वच्छंदतावादी और राष्ट्रीय कविता के विशेष उल्लेख के साथ हिंदी और बँगला कविता (१९१३-१९३७) का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
८७. हिंदी और बँगला नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन गोरखपुर
८८. हिंदी और बँगला नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन सागर
८९. आधुनिक बँगला और हिंदी नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन प्रयाग
९०. हिंदी और बँगला नाटकों तथा रंगमंच का तुलनात्मक अध्ययन शांतिनिकेतन
९१. हिंदी तथा बँगला के ऐतिहासिक नाटकों का तुलतात्मक अध्ययन दिल्ली
९२. हिंदी और बँगला के समस्यानाटकों का तुलनात्मक अध्ययन दिल्ली
९३. संस्कृत एवं अँगरेजी एकांकी की रचना-विधि के प्रकाश में हिंदी-एकांकी-रचनाविधि का तुलनात्मक अध्ययन लखनऊ
९४. बीसवीं शती के हिंदी और बँगला उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन कलकत्ता
९५. प्रेमचंदोत्तर बँगला और हिंदी उपन्यास गोरखपुर
९६. हिंदी और उड़िया वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रयाग
९७. हिंदी और उड़िया के मध्ययुगीन भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन पटना
९८. शंकरदेव और माधवदेव के विशिष्ट संदर्भ में हिंदी और आसामी

१७. संत-वैष्णवकाव्य पर तांत्रिक प्रभाव (१४००-१७००)
१८. परवर्ती संत-काव्य पर तांत्रिक प्रभाव—१७०० ई० के पश्चात् आ
१९. हिंदी-संतों (विशेषतया सूरदास, तुलसीदास और कबीरदास) पर वेदांत-पद्धतियों का ऋण (दर्शन)
२०. विशिष्टाद्वैत और उसका हिंदी के भक्ति-काव्य पर प्रभाव (संस्कृत)
२१. मध्यकालीन हिंदी-काव्य पर शैव और शाक्त प्रभाव प
२२. हिंदी के मध्ययुगीन साहित्य पर शैव-धर्म का प्रभाव आ
२३. हिंदी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव
२४. हिंदी-साहित्य पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव पं
२५. बौद्धधर्म का मध्ययुगीन हिंदी-संतसाहित्य पर प्रभाव आ
२६. आधुनिक हिंदी-साहित्य पर बौद्ध-प्रभाव दि
२७. १६वीं शताब्दी के कृष्णभक्ति-काव्य पर आलवार भक्तों का प्रभाव अल
२८. प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य और उसका हिंदी-साहित्य पर प्रभाव
२९. डिंगल साहित्य और भाषा पर प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव राज
३०. अपभ्रंश-काव्यशैली की परंपराओं का मध्यकालीन हिंदी-काव्य पर प्रभाव आ
३१. प्राचीन हिंदी-साहित्य पर जैन-साहित्य का प्रभाव
३२. हिंदी के निर्गुण-संत-कवियों पर नाथपंथ का प्रभाव
३३. सूफीमत और संत-काव्य पर उसका प्रभाव लख
३४. सूफी प्रेमतत्व का कृष्णभक्ति पर प्रभाव अलं
३५. रीतिकाव्य पर विद्यापति का प्रभाव
३६. हिंदी-रीतिकाव्य पर हिंदी-भक्तिकाव्य का प्रभाव प्र
३७. १६वीं शताब्दी के कृष्णकाव्य का बाद के हिंदी काव्य पर प्रभाव प्र
३८. रीतिकाव्य पर अष्टछाप का प्रभाव आ
३९. रीति-कविता का आधुनिक हिंदी-कविता पर प्रभाव
४०. आधुनिक हिंदी-कविता पर स्वच्छंदतावाद का प्रभाव पं
४१. २०वीं शताब्दी की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ और उनका हिंदी-साहित्य पर प्रभाव (१९००-१९३६)
४२. आधुनिक हिंदी-साहित्य पर राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों का प्रभाव आ
४३. आधुनिक भारत के सांस्कृतिक आंदोलन का हिंदी कविता पर प्रभाव दि
४४. छायावादी युग की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक पीठिका तथा कवियों पर उसका प्रभाव रा
४५. हिंदी-भाषा और साहित्य के विकास में भारतीय नेताओं का योगदान

	तथा प्रभाव (१८५७-१६५७)	०
४६.	हिंदी-साहित्य पर राजनीतिक आंदोलनों का प्रभाव (१६०६-१६४७)	०
४७.	औद्योगिक विकास और उसका हिंदी-साहित्य पर प्रभाव	बंबई
४८.	हिंदी भाषा और साहित्य पर महात्मा गांधी का प्रभाव	पटना
४६.	गांधीवाद और उससे प्रभावित हिंदी-साहित्य	सागर
५०.	गांधीवाद का आधुनिक हिंदी-साहित्य पर प्रभाव	नागपुर
५१.	आधुनिक हिंदी-साहित्य पर गांधीवादी विचार-धारा का प्रभाव	सागर
५२.	आधुनिक हिंदी-काव्यसाहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव	आगरा
५३.	गांधीवाद का आधुनिक उपन्यास तथा नाटक पर प्रभाव	प्रयाग
५४.	बँगला (भाषा और साहित्य) पर हिंदी (भाषा और साहित्य) का प्रभाव	०
५५.	बँगला का हिंदी भाषा और साहित्य पर प्रभाव	नागपुर
५६.	आधुनिक हिंदी-साहित्य पर बँगला-साहित्य का प्रभाव	०
५७.	आधुनिक हिंदी-गद्य पर बँगला-साहित्य का प्रभाव	पंजाब
५८.	हिंदी के छायावादी काव्य पर बँगला का प्रभाव (रवीन्द्रनाथ के प्रभाव के विशेष उल्लेख के साथ)	पटना
५६.	आधुनिक हिंदी-काव्य पर रवीन्द्र-काव्य का प्रभाव	आगरा
६०.	हिंदी-साहित्य पर विदेशी प्रभाव	राजस्थान
६१.	आधुनिक मनोविज्ञान और उसका हिंदी-साहित्य पर प्रभाव	सागर
६२.	पाश्चात्य विचारों और विचारधाराओं का आधुनिक हिंदी-साहित्य और उसके साहित्य-सिद्धांतों पर प्रभाव	काशी
६३.	हिंदी-कविता पर विदेशी प्रभाव	नागपुर
६४.	हिंदी-कविता पर पाश्चात्य प्रभाव	पंजाब
६५.	हिंदी का नव्यतम काव्य और पश्चिम का प्रभाव	सागर
६६.	हिंदी नाटकों और उपन्यासों पर पाश्चात्य (आंग्ल, रूसी तथा फ़्रांसीसी) प्रभाव	०
६७.	अंग्रेजी का हिंदी भाषा और साहित्य पर प्रभाव	०
६८.	आधुनिक हिंदी-साहित्य पर अंग्रेजी-साहित्य का प्रभाव	राजस्थान
६६.	आधुनिक हिंदी-काव्य और आलोचना पर अंग्रेजी-प्रभाव (अँगरेजी)	०
७०.	हिंदी के छायावादी कवियों पर अंग्रेजी के रोमान्टिक कवियों का प्रभाव	अलीगढ़
७१.	हिंदी-साहित्य पर मार्क्सवाद का प्रभाव	०
७२.	हिंदी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव	०
७३.	हिंदी-नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव	लखनऊ

१७. संत-वैष्णवकाव्य पर तांत्रिक प्रभाव (१४००-१७००) ०
१८. परवर्ती संत-काव्य पर तांत्रिक प्रभाव—१७०० ई० के पश्चात् आगरा
१९. हिंदी-संतों (विशेषतया सूरदास, तुलसीदास और कबीरदास) पर वेदांत-पद्धतियों का ऋण (दर्शन) ०
२०. विशिष्टाद्वैत और उसका हिंदी के भक्ति-काव्य पर प्रभाव (संस्कृत) ०
२१. मध्यकालीन हिंदी-काव्य पर शैव और शाक्त प्रभाव पटना
२२. हिंदी के मध्ययुगीन साहित्य पर शैव-धर्म का प्रभाव आगरा
२३. हिंदी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव ०
२४. हिंदी-साहित्य पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव पंजाब
२५. बौद्धधर्म का मध्ययुगीन हिंदी-संतसाहित्य पर प्रभाव आगरा
२६. आधुनिक हिंदी-साहित्य पर बौद्ध-प्रभाव दिल्ली
२७. १६वीं शताब्दी के कृष्णभक्ति-काव्य पर आलवार भक्तों का प्रभाव अलीगढ़
२८. प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य और उसका हिंदी-साहित्य पर प्रभाव ०
२९. डिंगल साहित्य और भाषा पर प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव राजस्थान
३०. अपभ्रंश-काव्यशैली की परंपराओं का मध्यकालीन हिंदी-काव्य पर प्रभाव आगरा
३१. प्राचीन हिंदी-साहित्य पर जैन-साहित्य का प्रभाव ०
३२. हिंदी के निर्गुण-संत-कवियों पर नाथपंथ का प्रभाव ०
३३. सूफीमत और संत-काव्य पर उसका प्रभाव लखनऊ
३४. सूफी प्रेमतत्व का कृष्णभक्ति पर प्रभाव अलीगढ़
३५. रीतिकाव्य पर विद्यापति का प्रभाव ०
३६. हिंदी-रीतिकाव्य पर हिंदी-भक्तिकाव्य का प्रभाव प्रयाग
३७. १६वीं शताब्दी के कृष्णकाव्य का बाद के हिंदी काव्य पर प्रभाव प्रयाग
३८. रीतिकाव्य पर अष्टछाप का प्रभाव आगरा
३९. रीति-कविता का आधुनिक हिंदी-कविता पर प्रभाव ०
४०. आधुनिक हिंदी-कविता पर स्वच्छंदतावाद का प्रभाव पंजाब
४१. २०वीं शताब्दी की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ और उनका हिंदी-साहित्य पर प्रभाव (१९००-१९३९) ०
४२. आधुनिक हिंदी-साहित्य पर राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों का प्रभाव आगरा
४३. आधुनिक भारत के सांस्कृतिक आंदोलन का हिंदी कविता पर प्रभाव दिल्ली
४४. छायावादी युग की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक पीठिका तथा कवियों पर उसका प्रभाव सागर
४५. हिंदी-भाषा और साहित्य के विकास में भारतीय नेताओं का योगदान

	तथा प्रभाव (१८५७-१९५७)	०
४६.	हिंदी-साहित्य पर राजनीतिक आंदोलनों का प्रभाव (१९०६-१९४७)	०
४७.	औद्योगिक विकास और उसका हिंदी-साहित्य पर प्रभाव	बंबई
४८.	हिंदी भाषा और साहित्य पर महात्मा गांधी का प्रभाव	पटना
४९.	गांधीवाद और उससे प्रभावित हिंदी-साहित्य	सागर
५०.	गांधीवाद का आधुनिक हिंदी-साहित्य पर प्रभाव	नागपुर
५१.	आधुनिक हिंदी-साहित्य पर गांधीवादी विचार-धारा का प्रभाव	सागर
५२.	आधुनिक हिंदी-काव्यसाहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव	आगरा
५३.	गांधीवाद का आधुनिक उपन्यास तथा नाटक पर प्रभाव	प्रयाग
५४.	बँगला (भाषा और साहित्य) पर हिंदी (भाषा और साहित्य) का प्रभाव	०
५५.	बँगला का हिंदी भाषा और साहित्य पर प्रभाव	नागपुर
५६.	आधुनिक हिंदी-साहित्य पर बँगला-साहित्य का प्रभाव	०
५७.	आधुनिक हिंदी-गद्य पर बँगला-साहित्य का प्रभाव	पंजाब
५८.	हिंदी के छायावादी काव्य पर बंगला का प्रभाव (रवीन्द्रनाथ के प्रभाव के विशेष उल्लेख के साथ)	पटना
५९.	आधुनिक हिंदी-काव्य पर रवीन्द्र-काव्य का प्रभाव	आगरा
६०.	हिंदी-साहित्य पर विदेशी प्रभाव	राजस्थान
६१.	आधुनिक मनोविज्ञान और उसका हिंदी-साहित्य पर प्रभाव	सागर
६२.	पाश्चात्य विचारों और विचारधाराओं का आधुनिक हिंदी-साहित्य और उसके साहित्य-सिद्धांतों पर प्रभाव	काशी
६३.	हिंदी-कविता पर विदेशी प्रभाव	नागपुर
६४.	हिंदी-कविता पर पाश्चात्य प्रभाव	पंजाब
६५.	हिंदी का नव्यतम काव्य और पश्चिम का प्रभाव	सागर
६६.	हिंदी नाटकों और उपन्यासों पर पाश्चात्य (आंग्ल, रूसी तथा फ़्रांसीसी) प्रभाव	०
६७.	अंग्रेजी का हिंदी भाषा और साहित्य पर प्रभाव	०
६८.	आधुनिक हिंदी-साहित्य पर अंग्रेजी-साहित्य का प्रभाव	राजस्थान
६९.	आधुनिक हिंदी-काव्य और आलोचना पर अंग्रेजी-प्रभाव (अँगरेजी)	०
७०.	हिंदी के छायावादी कवियों पर अंग्रेजी के रोमान्टिक कवियों का प्रभाव	अलीगढ़
७१.	हिंदी-साहित्य पर मार्क्सवाद का प्रभाव	०
७२.	हिंदी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव	०
७३.	हिंदी-नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव	लखनऊ

७४. अँगरेजी-नाटकों का हिंदी-नाटकों पर प्रभाव (अँगरेजी-विभाग) ०
७५. हिंदी-कथासाहित्य के विकास पर आंग्ल प्रभाव—१८८५-१९३६ ई० (अँगरेजी) ०
७६. मध्यवर्ग का उदय और हिंदी-उपन्यासों पर उसका प्रभाव काशी
७७. परवर्ती हिंदी-उपन्यास-साहित्य पर प्रेमचंद का प्रभाव प्रयाग
७८. आधुनिक हिंदी-उपन्यास पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव सागर
७९. हिंदी-उपन्यासकारों के सिद्धांत और विनियोग पर शरच्चन्द्र का प्रभाव पटना
८०. हिंदी-उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव ०
८१. हिंदी-उपन्यासों पर अंग्रेजी का प्रभाव पटना
८२. अंग्रेजी-उपन्यासों का हिंदी-उपन्यासों पर प्रभाव काशी
८३. अंग्रेजी-निबंधों का हिंदी-निबंधों पर प्रभाव आगरा
८४. संस्कृत और अँगरेजी आलोचना के सिद्धांतों का हिंदी-आलोचना-पद्धति पर प्रभाव प्रयाग
८५. आधुनिक हिंदी-आलोचना पर मार्क्सवाद का प्रभाव आगरा

वर्ग २१—प्रकीर्ण

१. हिंदी साहित्य और आलोचना में अभिरुचि का विकास ०
२. हिंदी-साहित्य में संगीत लखनऊ
३. साहित्यिक वृत्त (१८४०-१९४०)—साहित्य की मानवीय पृष्ठभूमि का अध्ययन प्रयाग
४. प्रयाग का साहित्यिक वृत्त (१८५०-१९५०)—साहित्य की मानवीय पृष्ठभूमि का अध्ययन प्रयाग
५. हिंदी में बाल-साहित्य लखनऊ
६. हिंदी का बालोपयोगी साहित्य आगरा
७. हिंदी-साहित्य में बालक लखनऊ
८. हिंदी-साहित्य में प्रगतिशील प्रवृत्तियां लखनऊ
९. हिंदी-साहित्य में ग्राम-जीवन पटना
१०. दूत-काव्य का उद्भव और विकास आगरा
११. हिंदी का स्तोत्र-साहित्य बड़ौदा
१२. हिंदी-साहित्य में स्तुति और मंगलाचरण लखनऊ
१३. हिंदी-नाममाला-साहित्य ०
१४. हिंदी-साहित्य में व्यंग्य (१८५७-१९५७) पंजाब
१५. हिंदी-साहित्य में स्वभावोक्ति दिल्ली

१६. हिंदी-साहित्य में हास्य और वाक्चातुर्य लखनऊ
१७. हिंदी-साहित्य में राष्ट्रीयता बड़ौदा
१८. हिंदी-साहित्य में राष्ट्रीयतावाद पंजाब
१९. भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिंदी-साहित्य में अभिव्यक्ति (१९२०-१९३७) ०
२०. हिंदी-साहित्य और अद्वैतवाद पंजाब
२१. हिंदी-शिव-काव्य आगरा
२२. प्रबोधचंद्रोदय और उसकी हिंदी-परंपरा ०
२३. वार्ता-साहित्य का जीवनीमूलक अध्ययन ०
२४. पुष्टिमार्गीय वार्ता-साहित्य का सैद्धांतिक तथा भक्तिपरक अध्ययन अलीगढ़
२५. हिंदी-द्विरुक्तियों का अध्ययन आगरा
२६. हिंदी-साहित्य में विविधवाद ०
२७. यथार्थवाद : चिंतन और कला—आधुनिक साहित्य की भूमिका पर सागर
२८. हिंदी-साहित्य में जीवनचरित का विकास—एक अध्ययन ०
२९. हिंदी में जीवनी और आत्मकथा विषयक साहित्य पटना
३०. हिंदी-साहित्य में आत्मकथात्मक संकेत आगरा
३१. हरिभद्र के प्राकृत-कथा-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन ०
३२. अपभ्रंश-कथा-साहित्य शांतिनिकेतन
३३. भविसयतकहा और अपभ्रंश-कथा-काव्य आगरा
३४. जैन विद्वानों की हिंदी-साधना नागपुर
३५. हिंदी-साहित्य में जैन गद्यलेखक आगरा
३६. हिंदी जैन-कथा-साहित्य आगरा
३७. हिंदी में जैन-पद-साहित्य आगरा
३८. हिंदी-जैन-साहित्य में कृष्णवार्ता आगरा
३९. अपभ्रंश और हिंदी-साहित्य में (१८वीं शती तक) जैन रहस्यवाद का अध्ययन आगरा
४०. आदिकाल का हिंदी-जैन-साहित्य ०
४१. हिंदी-साहित्य को आर्यसमाज की देन ०
४२. शाक्त-दर्शन और मध्ययुगीन हिंदी-साहित्य आगरा
४३. ध्रुवपद और हिंदी-साहित्य ०
४४. डिंगल का गद्य-साहित्य (१५वीं से १९वीं शती तक) आगरा
४५. अवधी-साहित्य का अध्ययन (तुलसी और जायसी को छोड़कर) प्रयाग
४६. अपभ्रंश-साहित्य ०